जागे अंतर्बोध

आचार्य सत्यनारायण गोयन्का

जागो अंतर्बोध

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

© विपश्यना विशोधन विन्यास
सर्वाधिकार सुरक्षित

पहला संस्करण : १९९४
द्वितीय संस्करण : १९९७
तृतीय संस्करण : २००१
चतुर्थ संस्करण : २००५
पुनर्मुद्रण : २०१०

मूल्यः रु. ५०/-

ISBN 978-81-7414-126-X

प्रकाशकः

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२४०३,
जिला- नाशिक, महाराष्ट्र
फोनः ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६, २४३७१२,
२४३२३८. फैक्सः ९१-२५५३-२४४१७६.
Email: vri_admin@dhamma.net.in
info@giri.dhamma.org
Website : www.vridhamma.org

मुद्रकः

अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
जी-२५९, सीकॉफ लिमिटेड, ६९ एम. आय. डी. सी.,
सातपुर, नाशिक-४२२००७, महाराष्ट्र

विषय-सूची

प्रकाशकीय

'जागे अंतर्बोध' श्रद्धेय गुरुजी के लेखों का संकलन है। एक दृष्टि विशेष के साथ संपादित संकलन। मोतियों की माला की तरह चुन-चुन कर किसी प्रयोजन विशेष से पिरोया हुआ संकलन। यह ग्रंथ पूर्व में 'जागे मंगल प्रेरणा' नाम से छपा, लोकप्रिय हुआ और सुधी पाठकों द्वारा सराहा व अपनाया गया। मगर गुरुजी उस पर पुनर्विचार करते रहे। चुन-चुन कर मोतियों को पिरोने और इस पावन ग्रंथ को और भी अनुपम बनाने के लिए चिंतन-मनन करते रहे। हमें प्रसन्नता है कि अब हम इसके पुनः संपादित, संवर्धित एवं संशोधित रूप को दो भागों में विभक्त करके नये नामों से प्रकाशित कर रहे हैं।

दूसरे ग्रंथ का नाम 'जागे पावन प्रेरणा' रखा है। ये दोनों ग्रंथ वास्तव में एक लंबी शोध एवं साधना-यात्रा के शब्द-चित्र हैं। जीवन-यात्रा के शब्द-चित्र, अन्वेषण-यात्रा के शब्द-चित्र, साधना-यात्रा के शब्द-चित्र और लोक-मंगल को समर्पित एक अनंत करुणा-भरी विचार-धारा के शब्द-चित्र। पूज्य गुरुजी ने भगवान बुद्ध के जीवन को इतना करीब से देखा प्रतीत होता है कि ये शब्द-चित्र इतिहास व अतीत नहीं लगते। इनकी जीवंतता में भगवान बुद्ध की करुणाभरी मंगल मैत्री स्पंदित होती दिखती है। उनका शिक्षक-रूप साक्षात सामने खड़ा चित्त के विकार हरता दिखता है।

विपश्यना विशोधन विन्यास का यह गौरव है कि हम इतनी सुविचारित, सुभाषित एवं सुरुचिपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन कर पा रहे हैं। हमें भरोसा है कि ये ग्रंथ जहां एक ओर विपश्यी साधकों को साधना संबंधी विचार-वीथियों का सहज परिचय करायेंगे, वहीं सामान्य पाठकों को अपनी रोचक व सरल भाषा में भगवान बुद्ध के जीवन व साधना की सैकड़ों झलकियां भी दिखायेंगे।

हमें विश्वास है कि सुधी पाठक इस ग्रंथ-द्वय का उसी स्नेह से स्वागत करेंगे, जो हमें पूर्व में भी मिलता रहा है। सबके लिए मंगल-मैत्री!

मानद मंत्री,

विपश्यना विशोधन विन्यास

भूमिका

भूमिका

बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम पैंतीस वर्ष की अवस्था में सम्यक संबुद्ध बने। उन्हें परमसत्य निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने इस सच्चाई के दर्शन किये कि मैं भवचक्र से नितांत विमुक्त हुआ। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

तदनंतर सात सप्ताह बोधिवृक्ष के आसपास विमुक्ति-सुख में बिताये और अपने अनुभव पर उतरी नैसर्गिक सच्चाइयों का प्रत्यवेक्षण करते रहे। किस प्रकार अपनी ही नासमझी के कारण प्राणी निरयलोक से भवाग्र ब्रह्मलोक के बीच जन्म-जन्मांतरों तक भव-भ्रमण करता रहता है। विपश्यना-विद्या द्वारा अपने ही भीतर इस भवचक्र का साक्षात्कार करते हुए इससे मुक्ति पा लेता है। इसी जीवन में नित्य, शाश्वत, ध्रुव परमपद का साक्षात्कार कर लेता है। विपश्यना की इस विद्या ने मुझे विमुक्त किया। इसे जो सीख लेगा वही अभ्यास करते हुए देर-सबेर भवदु:ख से विमुक्त हो ही जायेगा। यह विद्या इतनी सरल, स्वच्छ और स्पष्ट है तो भी अपनी-अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं और कर्मकांडों के जंजालों में उलझे हुए लोग इसे समझना ही नहीं चाहेंगे, इसे आजमाकर देखना तो दूर की बात हुई। कुछ समय तक ऐसा चिंतन चला। फिर उनके भीतर अनंत करुणा का झरना फूट पड़ा। अरे, कुछ लोग तो संसार में ऐसे हैं ही, जिनकी आंखों पर मिथ्या दार्शनिक मान्यताओं के जाले बहुत झीने हैं। वे इन जालों को दूर करके इस विद्या द्वारा नैसर्गिक सच्चाई का यथाभूत दर्शन कर अवश्य अपना कल्याण कर लेंगे। जितनों का हितसुख सधे, उतना ही भला। प्यासी धरती पर करुणा का मेघ-जल बरसना ही चाहिए। प्यासी धरती पर धर्मगंगा बहनी ही चाहिए। जो बहुत उपजाऊ होगी, वह इससे तत्काल लाभान्वित हो जायेगी। जो ऊसर-बंजर होगी, वह इस तत्काल लाभ से वंचित रह जायेगी। पर धर्मगंगा को तो बहना ही चाहिए।

और बह चली धर्मगंगा। जीवन के बचे हुए पैंतालीस वर्ष इस धर्मगंगा को प्रवाहित करने में ही बिता दिये। सत्य की खोज में नितांत निवृत्तिमान हुआ व्यक्ति अब पूर्णता प्राप्त कर असीम प्रवृत्ति में लग गया। अहर्निश प्रवृत्ति-ही-प्रवृत्ति। रात को लगभग एक प्रहर शरीर को विश्राम देने के लिए लेटते, बाकी सारा समय असीम करुणचित्त से लोकसेवा-ही-लोकसेवा में लगे रहे। इस सेवा के बदले कुछ पाने की भावना नहीं थी। जिसे अनुत्तर विमुक्त

अवस्था प्राप्त हो गयी हो, उसे अब पाने के लिए और क्या रह गया भला! अब तो केवल बांटना-ही-बांटना था और जीवनभर मुक्तहस्त से, करुणचित्त से बांटते-ही-बांटते रहे।

जिस व्यक्ति की जैसी पृष्ठभूमि देखी, जिसका जैसा मानसिक धरातल देखा, जिसकी जितनी ग्रहण-क्षमता देखी, उसे उसकी समझ शक्ति के अनुरूप ही उचित शब्दावली में, उपमाओं और उदाहरणों में, सरल-सरल लोकभाषा में धर्म समझाया। सांप्रदायिक धर्म नहीं, सार्वजनीन धर्म, ऋत धर्म। नैसर्गिक नियमों की सीधी-सीधी सार्वजनीन बातें– यह कारण होगा तो यह परिणाम आयेगा ही; यह कारण नहीं होगा तो यह परिणाम भी नहीं आयेगा। मन में विकार जागेगा तो उसके साथ दुःख जागेगा ही। विकार जितना-जितना बढ़ेगा, दुख उतना-उतना ही बढ़ता जायेगा। विकार जागना बंद हो जायेगा तो दुख स्वतः बंद हो जायेगा। निसर्ग का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक नियम। इसी नियम को स्वानुभूति द्वारा जानकर मानस की जड़ों तक विकार-विमुक्त होने की विपश्यना-विधि सिखायी। पैंतालीस वर्षों तक यही सिखाते रहे। दुःख सार्वजनीन है और दुःख से बाहर निकलने का यह उपाय (विपश्यना) सार्वजनीन है।

प्रत्येक वर्षावास के तीन-चार महीने किसी एक स्थान पर विहार करते। अधिकतर श्रावस्ती या राजगृह जैसे घनी आबादीवाले नगरों के समीप बने हुए विहारों में रहते, ताकि नगर के अधिक-से-अधिक लोग इस मांगलिक विद्या को सीखकर लाभान्वित हो सकें। वर्षावास के बाद बाकी सारा समय उत्तर भारत के गांव-गांव, निगम-निगम, नगर-नगर में धर्मचारिका करते हुए लोकसेवा करते और लाखों-करोड़ों लोगों को विकार-विमुक्ति की विपश्यना-विधि का संदेश देते, उसका समुचित निर्देशन देते।

देश के हर संप्रदाय के, हर मान्यता के, हर जाति के, वर्ग व वर्ण के, हर पेशे के, हर प्रदेश के लोग भगवान के संपर्क में आये और उनके बताये मार्ग पर चल कर मंगल-लाभी हुए। इसी जीवन में लाभान्वित हुए।

चाहे मगधनरेश बिंबिसार हो या कोशलनरेश प्रसेनजित, चाहे महारानी मल्लिका हो या महारानी खेमा, चाहे सेनापति बंधुल हो या सेनापति सिंह, चाहे राजपुरोहित कात्यायन हो या राजवैद्य जीवक, चाहे दानवीर सद्गृहस्थ अनाथपिंडिक हो या भिखमंगा कोढ़ी सुप्पबुद्ध, चाहे राजमहिषी श्यामावती हो या दासी खुज्जुत्तरा, चाहे संन्यासी जटिल काश्यपबंधु हों या परिव्राजक दारुचीरिय, चाहे सद्गृहिणी विशाखा हो या नगरवधू अंबपाली, चाहे ब्राह्मण

महाकाश्यप हो या भंगी सुनीत, चाहे ब्राह्मण सारिपुत्त हो या चांडालपुत्र सोपाक, चाहे सदाचारी सीलव हो या हत्यारा अंगुलिमाल; जो भी भगवान बुद्ध के संपर्क में आया, जिसने भी धर्मगंगा में डुबकी लगायी, जिसने भी विपश्यना-साधना का अभ्यास किया, वही बदल गया।

पैंतालीस वर्षों तक भगवान ने हजारों सदुपदेश दिये। उनके परिनिर्वाण के चंद महीनों के बाद ही उनके पांच सौ प्रमुख भिक्षु शिष्यों की संगायन समिति ने भावी पीढ़ियों के लाभार्थ इन उपदेशों का संकलन-संपादन किया, जो कि त्रिपिटक के नाम से जाना गया। कुछ समय बाद उन पर भाष्य (अर्थकथाएं) और टीकाएं लिखी गयीं। यह सारा साहित्य बहुत विशाल है। यद्यपि भारत ने इसे खो दिया, पर पड़ोसी ब्रह्मदेश ने कल्याणी विपश्यना-विद्या के साथ-साथ इस विशाल वाङ्मय को भी शुद्धरूप में सुरक्षित रखा है।

इस संगायन समिति ने भगवान के उपदेशों को संपादित करते हुए उनमें से अनेकों का संदर्भ भी संकलित किया, यानी अमुक उपदेश कब, कहां, किसे, क्यों और किस परिस्थिति-परिवेश में दिया गया? उन साक्षी भिक्षुओं द्वारा संकलित किये जाने के कारणउपदेशों की यह भूमिकाएं ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। यह समस्त साहित्य अब पालि भाषा में, बर्मी लिपि में उपलब्ध है। जब यह नागरी लिपि और हिंदी भाषा में प्रकाशित होगा तो देश की एक विलुप्त अनमोल संपदा प्रकाश में आयेगी। इस विशाल साहित्य में तत्कालीन भारत की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, व्यापारिक, सामाजिक, पारिवारिक अवस्थाओं का आंखों देखा एक बृहत रंगीन चित्रपट प्रस्तुत होगा। उस संकलन का यह रंचमात्र भी उद्देश्य नहीं था कि उस समय के ऐतिहासिक इतिवृत्त को संपादित किया जाय; उद्देश्य तो केवल यही था कि प्रत्येक भूमिका तत्संबंधित उपदेश के आशय को अधिक स्पष्ट करने और आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करने में सहायक हो। यही कारण है कि सार्वजनीन और सार्वकालिक सनातन धर्म का आधार लिए हुए यह साहित्य आज भी उतना ही तरोताजा और प्रेरणास्पद है।

ऐसी कुछ एक घटनाएं इन लेखों में प्रकाशित हुई हैं। वे विपश्यी साधकों को ही नहीं, सभी अध्यात्म-प्रेमियों को प्रेरणा प्रदान करेंगी। विपश्यना-साधना सार्वजनीन है। इस पर किसी एक संप्रदाय का प्रभुत्त्व नहीं है। यह सब के लिए समानरूप से उपादेय है, समानरूप से सुलभ है।

यह प्रकाशन बहुजन के हितसुख का कारण बने, लोगों में साधना के प्रति प्रेरणा जागे और वे इसका अभ्यास करके दुःख से विमुक्ति पा लें! सबका मंगल हो! कल्याण हो!!

कल्याण मित्र,

स. ना. गो.

———————

शाक्य-मुनि का आविर्भाव

१. शाक्य-राजवंश और शाक्य-संवत

१. शाक्य-राजवंश और शाक्य-संवत

कल्प के आरंभ में जब मनुष्य जाति एक समूह में रहने लगी तो पारस्परिक संबंधों में उत्पन्न होने वाली जटिलताओं और कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा सामाजिक संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए लोगों को एक शासक की आवश्यकता महसूस हुई। अतः सब ने मिल कर एक योग्य व्यक्ति का चुनाव किया, जो उन पर शासन कर सके। क्योंकि वह सर्व सम्मति से चुना गया था, अतः महासम्मत कहलाया। पृथ्वी पर वह पहला शासक हुआ।

इसी महासम्मत के वंश में एक महाप्रतापी राजा हुआ– ओक्काक (इक्ष्वाकु)। वह सूर्य के समान तेजस्वी होने का कारण, उसके वंशज सूर्यवंशी भी कहलाये।

महाराज ओक्काक को रानी भक्ता से नौ संतानें हुईं– पांच पुत्रियां और चार पुत्र। महारानी भक्ता की मृत्यु हो जाने पर राजा ने एक नवोढ़ा युवती से विवाह कर उसे अग्रराजमहिषी का पद दिया, जिसने अपने पुत्र के लिए राज्य के उत्तराधिकार की मांग की। काम-मोह में डूबे हुए राजा ने उसकी मांग स्वीकार कर ली। पर फिर उसे पश्चात्ताप हुआ। उसने अपनी पूर्व पत्नी की संतानों को राज्य की सीमा के बाहर कहीं सुरक्षित जगह जा कर निवास करने का आदेश दिया और समझाया कि उसकी मृत्यु पर वे राज्य को अपने अधिकार में ले ले। बड़ी रानी के पुत्र-पुत्रियों ने देश-निकाले को सहर्ष स्वीकार किया। परंतु पिता की मृत्यु पर अपने सौतेले भाई का राज्य छीन कर उस पर अपना अधिकार जमाने की बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। उन्होंने अपने पराक्रम और बाहुबल से अलग राज्य बसाने का संकल्प किया। वे हिमवंत प्रदेश में जा कर बोधिसत्त्व कपिलमुनि के आश्रम में रहने लगे। वहीं उन्होंने कपिलवस्तु राजधानी की स्थापना की। वे नया राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इस सराहनीय शक्यता के कारण वे शाक्य कहलाये। चार बहनों और चार भाइयों ने परस्पर विवाह कर लिया जो कि रक्तशुद्धि के नाम पर उन दिनों प्रचलित था। प्रिया नाम की सब से बड़ी बहन ने वाराणसी के तत्कालीन राजा राम से विवाह किया। उन्होंने कपिलवस्तु के समीप ही कोलीय राज्य की स्थापना की, जिसकी राजधानी देवदह बनी। दोनों राजकुलों को अपनी रक्त-शुद्धता का बड़ा अभिमान था। अतः किसी अन्य कुल में विवाह कर के रक्त-मिश्रण के दोष से बचने के लिये

पीढ़ियों तक कोलीय और शाक्य परस्पर आवाह-विवाह करते रहे। यह क्रम सदियों तक चलता रहा। वैसे भी उन दिनों ममेरे और फूफेरे भाई-बहनों का परस्पर विवाह प्रचलित था, जैसे कि दक्षिण भारत में आज भी है।

जयसेन शाक्य वंश का एक बहुत प्रतापी राजा हुआ। उसका एक पुत्र था सिंहहनु और एक कन्या थी यशोधरा। उसी समय कोलियों का राजा था देवदह शाक्य, जिसका पुत्र था अंजन और पुत्री थी कात्यायिनी। देवदह के पुत्र अंजन का विवाह जयसेन की पुत्री यशोधरा से हुआ। जयसेन के पुत्र सिंहहनु का विवाह देवदह की पुत्री कात्यायिनी से हुआ। अंजन और सिंहहनु दोनों ही जयसेन की तरह बड़े प्रतापी थे। उन दोनों का राजपुरोहित ब्राह्मण असित कालदेवल था, जो कि ज्योतिष और शरीर-लक्षण-शास्त्र का पंडित तो था ही, साथ ही साथ आठों ध्यान समाधियों में भी पारंगत था और अनेक प्रकार की ऋद्धियों का धनी था।

उस समय एक बहुत पुराना शाक्य संवत चल रहा था, जिसके आठ हजार छह सौ सैंतालीस वर्ष पूरे होने पर कोलीय महाराज अंजन ने राजपुरोहित ऋषि असित कालदेवल के परामर्श पर रुकवा दिया और एक अच्छे मुहूर्त पर नया महाशाक्य-संवत चलवाया, जो कि कहीं-कहीं अंजन-संवत के नाम से भी पुकारा जाता रहा। इस संवत के दसवें वर्ष आषाढ़ पूर्णिमा, शनिवार को महाराज सिंहहनु की महारानी कात्यायिनी ने शुद्धोदन को जन्म दिया। इसके पश्चात उसने चार पुत्र धोतोदन, शक्कोदन, शुक्कोदन, और अमितोदन तथा दो पुत्रियां अमिता और पमिता को जन्म दिया।

नये महाशाक्य संवत के बारहवें वर्ष में कोलीय राजा अंजन की रानी यशोधरा ने महामाया नाम की पुत्री को जन्म दिया, और उसके बाद प्रजावती नाम की एक और पुत्री तथा दंडपाणी और सुप्पबुद्ध नाम के दो पुत्रों को। शुद्धोदन का विवाह कोलीयधीता महामाया और उसकी छोटी बहन प्रजावती से हुआ और सुप्पबुद्ध का विवाह शाक्यधीता अमिता से हुआ। महारानी महामाया ने बृहस्पतिवार आषाढ़ पूर्णिमा, शाक्य-संवत ६७ को गर्भधारण किया और शुक्रवार वैशाख-पूर्णिमा शाक्य संवत ६८ को सिद्धार्थ गौतम को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के सातवें दिन जब महामाया का देहांत हुआ तो गर्भवती प्रजावती ने नंद नामक पुत्र को जन्म दिया, जिसे उसने धाय को सौंपकर, सिद्धार्थ को अपना दूध पिला कर पालने का उत्तरदायित्व लिया। दो वर्ष पश्चात प्रजावती गौतमी को नंदा नाम की एक कन्या भी हुई।

कोलीय सुप्पबुद्ध को अमिता से यशोधरा नामक पुत्री और देवदत्त नामक पुत्र हुआ। शाक्य संवत ८४ में सिद्धार्थ और यशोधरा का विवाह हुआ। शाक्य संवत ९७ आषाढ़ी पूर्णिमा, सोमवार के दिन सिद्धार्थ ने गृह-त्याग किया। शाक्य संवत १०३ की वैशाख-पूर्णिमा, बुधवार के दिन उन्हें सम्यक संबोधि प्राप्त हुई। शाक्य संवत १४८ की वैशाख-पूर्णिमा, मंगलवार के दिन उनका महापरिनिर्वाण हुआ और पांच दिन बाद रविवार को उनका दाह-संस्कार हुआ और इसके २५ दिन बाद बृहस्पतिवार, ज्येष्ठ कृष्ण प्रथमी को धातु-वितरण का कार्य संपन्न हुआ।

सारे शाक्य-वंश पर बुद्ध का व्यक्तित्व छा गया था और लोकगुरु होने के कारण सारे विश्व पर उनका प्रभाव फैल गया था। अतः एक सौ अड़तालीस वर्ष के पश्चात शाक्य-संवत स्वतः समाप्त हो गया और उसकी जगह **बुद्ध-संवत** चल पड़ा।

———————

२. धन्य हुई वैशाख पूर्णिमा!

वर्ष – महाशाक्य-राजसंवत, ६८

ऋतु – ग्रीष्म

मास – वैशाख

दिवस – शुक्रवार

तिथि – पूर्णिमा

नक्षत्र – विशाखा

समय – ऊषाकाल ब्रह्म मुहूर्त

ग्रीष्म के ताप से उत्तप्त हुई धरती को सारी रात शुद्ध शीतल शर्वरी (ज्योत्स्ना) से नहला कर पूर्णिमा का चांद अब विश्राम के लिए पश्चिमी क्षितिज की ओर बढ़ रहा है। पूर्वी क्षितिज पर बाल रवि के शुभागमन का संदेश लिए हुए, ऊषाकुमारी गगनांगन में प्रकाशकण बिखेर रही है और संसार को दैनंदिन जीवनदान दे रही है।

स्थान : द्वीपों में श्रेष्ठ जंबूद्वीप के बीचोबीच स्थित मज्झिम देश का मध्य-उत्तरी भाग; उत्तुंग हिमगिरि के चरणांचल में बसा शाक्य प्रदेश। एक ओर शाक्य राजवंश की राजधानी कपिलवस्तु और दूसरी ओर शाक्यों की ही एक शाखा कोलीय राजवंश की राजधानी देवदह। दोनों के बीच सुषुमाश्री संपन्न लुंबिनी शालवन, जो कि दोनों राज्यों के नागरिकों के आमोद प्रमोद के लिए आरक्षित-सुरक्षित है।

अवसर : कपिलवस्तु के शाक्य-गणराज्य के महासम्मत महाराज शुद्धोदन की अग्र राजमहिषी देवी महामाया दस महीने का गर्भ धारण किये हुए प्रसवहेतु पतिगृह से पितृगृह देवदह के लिए यात्रा कर रही हैं। साथ अनेक सैनिक संरक्षक हैं और राजसी दास-दासियां। स्वर्ण-पालकी में बैठी राजरानी का ध्यान सुरम्य वनश्री के चित्तरंजन ऐश्वर्य की ओर आकर्षित होता है। लुंबिनी के शालवृक्षों की डालियां रंगबिरंगे सुंदर फूलों से लदी हुई हैं। इन फूलों के मधुर गंधपराग से समस्त वायुमंडल सुरभित है। भौरों के झुंड के झुंड चारों ओर गुंजार कर रहे हैं। नाना रंग-रूप वाले खगकुल अपने मधुर कूजन-कलरव और चहचहाट-भरे

वाद्यवृंद से वातावरण को मुखरित कर रहे हैं। तरुशाखाओं को शिखरपताकाओं की तरह प्रकंपित करने वाला लुभावना समीर यात्रिओं को आमंत्रित कर रहा है।

महारानी महामाया की इच्छा हुई कि कुछ देर इस नंदनवन-सदृश लुंबिनी वनस्थली की सैर करे। पालकी रुकवा कर वह उतरी और निसर्ग के वैभव का आनंद लेने के लिए वन-वीथि पर टहलने लगी। जैसे तेल से लबालब भरे हुए प्याले को हथेली पर रख कर कोई बहुत सजग होकर चले, जिससे कि तेल की एक बूंद भी छलक न पावे, ऐसे ही अपने गर्भ में स्थित दिव्य बालक का ध्यान रखते हुए, वह धीमे कदमों से टहलने लगी। समीप के एक शाल-वृक्ष पर नजर पड़ी और उसकी झूमती हुई पुष्प-पल्लवित डाल के आह्वान-संकेत ने महारानी को आकर्षित, आमंत्रित किया। वह उस शाल वृक्ष के नीचे गयी। डाल पकड़ने के लिए पंजों के बल जरा ऊंची हुई तो हवा के झोंके से वह डाल स्वतः झुक आयी। महामाया ने उसे अपने दाहिने हाथ से पकड़ा और कुछ क्षण प्रकृति के निश्छल, निर्मल सौंदर्य को देखती रह गयी। पश्चिम में चांद डूबता जा रहा था। पूरब में बाल-रवि अपनी अरुण किरणें बिखराता हुआ उदय हो रहा था।

इसी समय पके हुए गर्भ का उत्थान हुआ। साथ आयी परिचारिकाओं ने सहारा दिया। कुछ सेवकों ने वहीं कनात तान दी और दूर हट गये। कुछ क्षणों के लिए मुखर प्रकृति निःशब्द हो गई। चंचल निसर्ग अचल, अडोल हो गया। सारे वातावरण में मौन उत्सुकता छा गयी। किसी अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना घटने की संभावना से सारे दृश्य-अदृश्य प्राणी स्तब्ध-सजग हो गये।

सचमुच उस समय एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना घटी, जो सदियों में कभी-कभार ही घट पाती है। माता महामाया ने वहीं खड़े-खड़े प्रसव किया। बुद्धांकुर महासत्त्व माता के उदर से खड़े-खड़े ही जन्मा। नवजात शिशु के पांव धरती पर लगे। और…

धरती धन्य हुई, पावन हुई। समस्त पृथ्वी हर्षविभोर हो कर प्रकंपित हो उठी। सारा चक्रवाल (सौरमंडल) पुलक-रोमांच से प्रकंपित हो उठा और इस चक्रवाल के समीपवर्ती दस सहस्त्र चक्रवाल प्रसन्नता की तरंगों से तरंगित हो गये। निरभ्र आकाश में गड़गड़ाहट हुई मानो देव-दुंदुभी बजी। प्रमुदित पेड़ों के प्रफुल्लित सुमन बोधिसत्त्व के सम्मान-सत्कार के लिए बिखर-बिखर कर धरती को आह्लादित करने लगे। सारी प्रकृति देव-पुष्पों की दिव्य पराग-सुरभि से गमक उठी।

बोधिसत्त्व ने किसी राजमहल के बंद कक्ष में जन्म नहीं लिया। समस्त प्रकृति के सारे रहस्यों का अनुसंधान और उद्घाटन करने वाला यह सत्यान्वेषी

महामानव खुली प्रकृति में, खुले आकाश के नीचे, रुक्खमूल के समीप, वनप्रदेश की खुली धरती पर जन्मा। सचमुच धरती धन्य हुई। परम पावन हुई। जन-जन द्वारा पूज्य हुई।

लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात भारत-सम्राट देवानांप्रिय प्रियदर्शी धर्मराज अशोक ने इस धरती के पूजन के लिए धर्मयात्रा की और इस स्थल पर एक राजसी धर्मस्तंभ की स्थापना की। आज तक कृतज्ञता-विभोर मानव-समाज इस धरती का दर्शन करके, इसे शीष नवा कर, यहां की पावन धर्मतरंगों से लाभान्वित होता रहा है। भविष्य में भी सदियों तक ऐसा ही होता रहेगा। और…

माता महामाया धन्य हुई! उसकी पुरातन धर्म-कामना फलीभूत हुई। इक्यानवे कल्प पूर्व भगवान विपश्यी सम्यक संबुद्ध के समय वह राजा बंधुमा की ज्येष्ठ राजकुमारी थी। पिता के साथ भगवान सम्यक संबुद्ध के दर्शन करने और उनके धर्मप्रवचन सुनने गयी। भगवान के आकर्षक व्यक्तित्त्व को देख कर और उनका कल्याणकारी धर्मोपदेश सुन कर अत्यंत भाव-विभोर हो उठी। ओह! धन्य है वह माता! जिसने ऐसा सपूत जन्मा, जो कि अत्यंत करुण चित्त से असंख्य दुखियारे प्राणियों को भवबंधन से नितांत विमुक्त हो सकने का मंगल-मार्ग दिखा रहा है। मैं भी ऐसी ही भाग्यशालिनी बनूं। ऐसे ही सुवर्णवर्ण तेजस्वी बोधिसत्त्व को गर्भ में धारण कर बुद्धमाता होने का सौभाग्य प्राप्त करूं। परंतु बोधिसत्त्व के अंतिम जीवन में उसे जन्म देने वाली जननी बनने के लिए अनेक कल्पों तक पुण्य-पारमिताओं को पूर्ण करना होता है। अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। मैं इन सबके लिए प्रस्तुत हूं। सम्यक संबुद्ध भगवान विपश्यी ने उसका ऐसा दृढ़ संकल्प देखा तो मुस्कुरा कर उसे आशीर्वाद दिया। तब से इक्यानवे कल्पों तक अनगिनत जन्मों में अपनी पारमिताओं को पूरा करने के पुनीत पथ पर चल पड़ी। एक-एक भव, एक-एक भव में पारमिताओं का संग्रह करते हुए, अंततः यह योग्यता प्राप्त की कि जब तुषित लोक में जन्मे हुए, संतुषित श्वेतकेतु नामक देवपुत्र बोधिसत्त्व ने अपने लिए अंतिम जन्म देने वाली माता का चुनाव किया तो इस ५५ वर्ष ४ महीने की मज्झिम वय वाली महारानी महामाया को ही इस योग्य पाया।

कोलीय महाराज अंजन की ज्येष्ठ पुत्री महामाया कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन से ब्याही गयी। पीहर और ससुराल के सारे राजसी वैभव में जन्मी, पली और इसी माहौल में अपने जीवन के ५६ वसंत बिताए। परंतु सदैव सहज भाव से अखंड रूप से पांचों शीलों का पालन करती रही। न तो अन्य सामान्य

राजपुत्रियों और राजमहिषियों की तरह कामक्रीड़ा में रत रहती थी, न मद्यप थी, न वाचाल थी और न ही अशांत, उद्विग्न थी। ऐसी साध्वी स्वभाव की माता ही बोधिसत्त्व के अंतिम जन्म की जननी बनने योग्य थी।

बोधिसत्त्व को जन्म देने वाली मनोरथपूर्णा माता महामाया पुत्र-जन्म के तुरंत बाद पतिगृह लौट आयी और एक सप्ताह पश्चात ही उसकी शरीर-च्युति हो गयी। उसने तुषित लोक में माया नाम के देवपुत्र के रूप में जन्म लिया।

कालांतर में सिद्धार्थ गौतम सम्यक संबुद्ध बने। उन्हें अपने इस अंतिम जन्म की माता का ध्यान आया। उन्होंने देवलोक में जाकर अभिधम्म की देशना दी और अनेक देवों के साथ अपनी जन्मदायिनी माता का उपकार किया। उसे विमुक्ति-पथ पर स्थापित किया। महामाया बोधिसत्त्व को जन्म देकर सचमुच धन्य ही हुई। और…

स्वयं बोधिसत्त्व भी धन्य हुआ: उसकी लंबी भवयात्रा पूर्ण होने का समय आया। बोधिसत्त्व ने सभी पारमिताएं परिपूर्ण कीं, परिपुष्ट कीं और अब स्वयं सम्यक संबुद्ध बन सकने योग्य अंतिम जीवन प्राप्त किया।

बोधिसत्त्व की कितनी लंबी भव-यात्रा! चार असंख्येय (एक असंख्येय माने एक के आगे एक सौ चालीस बिंदी लगे) और एक लाख कल्प पूर्व यही सत्त्व (प्राणी) सुमेध नाम से किसी समृद्ध ब्राह्मण-गृहस्थ के घर में जन्मा था। कामभोग के प्रति विरक्ति जागने के कारण वह घर त्याग कर संन्यासी बना और ध्यान-भावना में लग गया। समय पाकर आठों ध्यानों में पारंगत हुआ। पर मुक्त अवस्था प्राप्त नहीं हुई। ऐसी हालत में अपने किसी पूर्व पुण्य-कर्म के कारण सम्यक संबुद्ध भगवान दीपंकर के संपर्क में आया। उसी समय वह इस योग्य था कि उनसे विपश्यना साधना सीख कर नितांत भव-विमुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेता। परंतु उसने देखा कि वे भगवान महाकारुणिक किस प्रकार अनेक प्राणियों के हितसुख में लगे हैं। यह देख कर उसके मन में यह धर्म-संवेग जागा– केवल अपनी ही मुक्ति के लिए परिश्रम करना उचित नहीं, इस भव-संसार में अनगिनत प्राणी दुःख-चक्र में पिसे जा रहे हैं। क्यों न मैं भी ऐसी ही सर्वज्ञता प्राप्त करूं, जिससे कि इन सबकी मुक्ति में सहायक बन सकूं? क्यों न मैं इन्हीं भगवान दीपंकर की भांति सम्यक संबुद्ध बनूं? भले इसके लिए मुझे अथक परिश्रम करना पड़े। ऐसी योग्यता प्राप्त करने में भले कल्पों लग जायँ। भव-भ्रमण के यह सारे कष्ट सहन करने के लिए मैं सहर्ष प्रस्तुत हूं। त्रिकालज्ञ भगवान दीपंकर ने जब तापस सुमेध के मन की ऐसी तीव्र धर्मकामना देखी तो उसे आशीर्वाद दिया और भविष्यवाणी की–

पस्सथ इमं तापसं, जटिलं उग्ग तापनं।
अपरिमेय्यो इतो कप्पे, बुद्धो लोके भविस्सति॥

– देखो, उग्र तपस्या करने वाले इस जटाधारी तापस को देखो! इस कल्प के पश्चात अपरिमित कल्पों के बीतने पर यह व्यक्ति इस लोक में बुद्ध बनेगा।

सम्यक संबुद्ध की यह भविष्यवाणी तापस सुमेध के लिए बोधि-बीज बनी और इस बीज को धारण कर यह सत्त्व (प्राणी) बोधिसत्त्व बना। उसी समय चारों ओर से प्रेरणा के यह दिव्य-शब्द गूंजे–

दळ्हं पग्गण्ह विरियं, मा निवत्त अभिक्कम।
मयम्पेतं विजानाम, धुवं बुद्धो भविस्ससि॥

– दृढ़ पराक्रम में लग जाओ। आगे बढ़ते ही रहो। पीछे कदम न हटाओ! हम जानते हैं कि तुम निश्चय ही बुद्ध बनोगे।

इसे सुन कर तपस्वी सुमेध के मन में अतुलनीय धर्म-उत्साह जागा और इन मंगल-आशीर्वचनों का संबल लिये हुए वह दृढ़ पराक्रम में लग गया।

और कल्प दर कल्प भव-भ्रमण करता हुआ, हर भव में कोई न कोई पारमी पुष्ट करता हुआ, हर भव में जो अनेकानेक प्राणी संपर्क में आये, उन्हें शुद्ध धर्म की देशना देता हुआ, उनके हृदय में धर्म का बीज बोता हुआ और स्वयं धर्म का आदर्श जीवन जी कर उन सब के लिए प्रेरणा-स्रोत बनता हुआ, सारी पारमिताएं परिपूर्ण कर चुकने पर, अब उसने यह अवस्था प्राप्त कर ली जो कि इसी जीवन में उसे सम्यक संबुद्ध बना देगी। जो इतनी बड़ी मात्रा में इन दस पारमिताओं का संग्राहक धनी है, जो सम्यक संबुद्ध बनने की परिपक्व अवस्था में पहुँच चुका है, सचमुच उस समय उसके समान अन्य कौन होता? किसी के उससे बढ़ कर होने की तो बात ही क्या! इसीलिए स्मृति-संप्रज्ञान के साथ माता महामाया के गर्भ में प्रवेश करने के समय से, दस महीनों तक स्मृति-संप्रज्ञान में ही रहता हुआ, अब स्मृति संप्रज्ञान के साथ ही धरती पर पांव रखता है तो अपने संग्रहीत अपरिमित धर्म-बल से इन दस सहस्र चक्रवालों को देखता हुआ यह उद्घोषणा करता है–

अग्गोहमस्मि लोकस्स – लोक में मैं अग्र हूं।
जेट्ठोहमस्मि लोकस्स – लोक में मैं ज्येष्ठ हूं।
सेट्ठोहमस्मि लोकस्स – लोक में मैं श्रेष्ठ हूं।
अयमन्तिमा जाति – यह मेरा अंतिम जन्म है।

नत्थि दानि पुनब्भवो – अब एक बार भी पुनर्जन्म नहीं होगा।

जन्मते ही बोधिसत्त्व की यह मंगल-घोषणा सचमुच कितनी सत्य थी! सचमुच यह उसका अंतिम जन्म ही साबित हुआ! इस प्रकार बोधिसत्त्व भी धन्य हुआ! और...

धन्य हो उठे सारे लोक-परलोक! क्योंकि पृथ्वी पर एक ऐसे सत्त्व ने जन्म लिया, जो कि बुद्धत्त्व प्राप्त कर ऐसा धर्मचक्र-प्रवर्तन करेगा, जिससे कि धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न तीर्थों में, संप्रदायों में, मत-मतांतरों में उलझे हुए लोग, भिन्न-भिन्न निकम्मी निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं में भरमाए लोग, भिन्न-भिन्न कर्मकांडों और अतिधावन में भटकते हुए लोग, शुद्ध, सार्वजनीन, सांदृष्टिक, आशुफलदायी और वैज्ञानिक धर्म पायेंगे और भवचक्र से विमुक्त होंगे।

चारों ओर प्रसन्नता का माहौल था। उदासी केवल देवपुत्र मृत्युराज मार के मुख पर छायी हुई थी। अब उसके बाड़े में विचरने वाले प्राणियों का बाड़ा-बंधन टूटेगा, अनेक लोगों पर उसकी सत्ता का प्रभाव कमजोर पड़ेगा। अनेक लोग मृत्यु के चंगुल से मुक्त होंगे।

भले मार दुःखी हो, परंतु अनेकों का कल्याण होगा! मंगल होगा! स्वस्ति-मुक्ति होगी! और हुआ ही!

इस प्रकार बोधिसत्त्व को अंतिम जन्म देने वाली महाशाक्यराज संवत ६८ की यह वैशाख पूर्णिमा बहुतों के लिए धन्यता का कारण बनी। और स्वयं भी धन्य-धन्य ही हुई।

यह हमारे लिए भी कल्याण का कारण बने। हम भी इससे प्रेरणा पाएं और अपना मंगल साध लें!

------

३. स्वप्न पूरे हुए

आचार्य आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त के पास सातवां और आठवां ध्यान सीख कर भी जब बुद्धत्त्व प्राप्त नहीं हुआ तो बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ने देहदंडन की दुष्कर साधना आजमा कर देखी। छह वर्षों के घोर कायाकष्ट की इस क्लिष्ट साधना द्वारा शरीर को इतना कृश बना लिया कि वह हड्डियों का ढांचा-मात्र रह गया। दुर्बल इतना कि खड़ा होते ही गिर पड़े और मूर्छित हो जाय। लोगों को लगे कि श्रमण गौतम मरणासन्न है, अथवा यह भ्रम हो कि वह मृत्यु को प्राप्त हो गया है। इस निम्न-कोटि की कायक्लेशमयी कठोर तपस्या करके देख लिया कि यह अतियों का मार्ग है। अतः निरर्थक है, निष्फलदायी है। इससे बुद्धत्त्व प्राप्त होने की कोई आशा नहीं।

यह महाशाक्य संवत का १०३रा वर्ष था। चैत्र मास समाप्त हो रहा था। तभी बोधिसत्त्व ने निर्णय किया कि कोई अन्य प्रयोग कर देखना उचित होगा। कौन सा प्रयोग करे? इसका चिंतन करने पर बचपन की एक घटना याद आयी। हल जोतने का वार्षिक मेला था। गांव-नगर के सभी लोग एकत्र हुए थे। परंपरागत मान्यता के अनुसार शासक महाराज शुद्धोदन ने बड़ी धूमधाम के साथ खेत की भूमि पर पहला हल चलाया। बालक सिद्धार्थ को पास ही एक जामुन के पेड़ की छांह में सुलाकर राजसी परिचारिकाएं लोकोत्सव का धूमधड़ाका देखने खेत के किनारे जा बैठीं। कुछ समय बाद जब राजकुमार जागा तो किसी को पास न देख कर जामुन के पेड़ की छाया में पाल्थी मार कर बैठ गया और शीघ्र ही प्रथम ध्यान की समापत्ति में समाहित हो गया। अब बोधिसत्त्व ने बचपन की उस अनुभूति पर ध्यान दिया तो याद आया कि उस समय उसने अपनी सहज स्वाभाविक आश्वास-प्रश्वास की जानकारी बनाये रखने का प्रयास किया था। इसी से उसे सहज समाधि लगी थी। क्यों न इसी विधि को फिर आजमा कर देखे। इस विधि का उसने अनेक पूर्व जन्मों में भी कुछ-कुछ अभ्यास किया होगा तो ही उस बचपन की अवस्था में बिना किसी मार्गदर्शक के यह अनायास जाग उठी थी।

बोधिसत्त्व ने सोचा आचार्य आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त के यहां जो पहले से सातवें तक और सातवें से आठवें तक के ध्यान का अभ्यास किया, वह बाह्य आलंबनों पर अथवा यथाभूत अनुभूतियों से दूर महज कल्पनाओं पर

आधारित था; जबकि यह आश्वास-प्रश्वास वाली आनापान की साधना अपने बारे में नैसर्गिक रूप से जो सच्चाई प्रकट हो रही है, उसी को तटस्थभाव से देखने की सहज सरल विधि है। इसमें न कोई कल्पना है और न ही स्व से असंबंधित किसी दूर-दराज के आलंबन का आधार। अतः इसी का प्रयोग करके देखा जाय। अपने ही स्वाभाविक सांस को देखते-देखते सरलता से अपने भीतर प्रवेश किया जा सकेगा और काया के भीतर की सच्चाई को देख सकने याने अनुभव कर सकने की क्षमता सहज प्राप्त हो सकेगी। ऐसी विधि जिससे अपने शरीर की सीमा के भीतर ही ध्यान रहे और बाहर के आलंबनों को छोड़ कर अपने ही चित्त और शरीर के याने नाम-रूप के प्रपंच को देखा जा सके। यों इस संपूर्ण अनित्यधर्मा क्षेत्र का निरीक्षण करके उसके परे के नित्यधर्मा परम-सत्य का दर्शन किया जा सकेगा, तभी बोधि प्राप्त होगी।

अनेक जन्मों की पारमिताएं अब परिपूर्ण हो जाने के कारण समय पका और बोधिसत्त्व का चिंतन यों सही दिशा की ओर मुड़ा। यह धर्मनियामता याने धर्म के सनातन नियमों का ही प्रभाव था, जिसने बोधिसत्त्व का ध्यान आनापान-सति की ओर खींचा जो कि अंतर्मुखी, सत्यमुखी, मुक्तिदायिनी विपश्यना साधना का प्रथम चरण है।

परम सत्य की लोकोत्तर अवस्था तक न पहुँचा सकने वाले आठों लोकीय ध्यान और कठोर कायक्लेश, इन दोनों के स्वानुभूतिजन्य पूर्व प्रयोग इनकी खामियां समझने के लिए आवश्यक थे। इन दोनों के प्रयोगों की असफलता ने ही सही दिशा में चिंतन करने को प्रेरित किया कि अपने चित्त और शरीर पर क्षण-प्रतिक्षण प्रकट होने वाली सच्चाई का आधार ले कर पहले सांस से काम आरंभ किया जाय। तदनंतर भीतर की स्वानुभूत नश्वर सच्चाइयों का यथाभूत ज्ञानदर्शन और उनके प्रति विरक्ति उत्पन्न कराने वाली विपश्यना का अभ्यास किया जाय, जिससे कि इंद्रियातीत परम सत्य प्रकट हो जाय।

परंतु फिर देखा कि इस साधना के लिए शरीर का स्वस्थ सबल होना अनिवार्य है और इसके लिए अतियों का मार्ग त्याग कर उपयुक्त आहार आवश्यक है। अतः दूर फेंके हुए मिट्टी के भिक्षापात्र को उठाया और भिक्षाटन के लिए समीप के सेनानी ग्राम में दुर्बल कदमों से धीरे-धीरे चल पड़ा।

लगभग छह वर्ष पूर्व जब कठोर दुष्कर चर्या आरंभ की थी तभी बोधिसत्त्व की खोज में निकले हुए राजनगरी कपिलवस्तु के पांच गृहत्यागी ब्राह्मणपुत्र उससे यहीं आ मिले थे और इस तपश्चर्या में उसकी सेवा-सुश्रूषा कर रहे थे। उन्होंने जब देखा कि बोधिसत्त्व ने देह-दंडन का मार्ग त्याग दिया है और भिक्षा-ग्रहण

करने चला गया है तो उसके प्रति निराश होकर, उसे छोड़ वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन मृगदाय-वन की ओर चले गये।

अच्छा ही हुआ। यहां भी धर्मनियामता ने याने धर्म की धर्मता ने बोधिसत्त्व की मदद की। जिस साधना का अब उसे प्रयोग करना था, उसके लिए एकांत नितांत अनिवार्य था। आनापान और विपश्यना के अंतर्तप के लिए बोधिसत्त्व को १५ दिनों की एकांत साधना की आवश्यक सुविधा मिली जो कि बुद्धत्त्व प्राप्ति के लिए सहायक सिद्ध हुई।

दो एक दिन शरीर को सबल स्वस्थ बनाने में लगे और फिर इस नए प्रयोग की निरंतरता में जुट गया। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा से ले कर चतुर्दशी तक का यह महत्त्वपूर्ण समय आज पूरा हुआ। निरंजना नदी के किनारे एक बरगद की छांह में बोधिसत्त्व ध्यान में लीन था। चौदहवीं का चांद सारी रात अपनी चांदनी की शुभ्र, शुक्ल, शीतल किरणों से आकाश और धरती को अभिसिंचित करता रहा। ध्यान के लिए अत्यंत उपयुक्त वातावरण बना। बरगद के नीचे बैठे हुए बोधिसत्त्व ने इसका भरपूर प्रयोग किया। आनापान की साधना द्वारा अपनी सम्यक समाधि पुष्ट की।

रात बीतने का समय समीप आ रहा था। भोर होने में अभी जरा देर थी। सूर्योदय नहीं हुआ था और न ही ऊषा का आगमन। इस शांत नीरव ब्रह्म मुहूर्त में बोधिसत्त्व ने शरीर को जरा आराम देना चाहा। वह वट-वृक्ष के नीचे लेट गया और कुछ ही देर में झपकी लग गयी। निद्रित अवस्था में एक के बाद एक, पांच स्वप्न प्रकट हुए जो कि भविष्य की ओर इंगित करने वाले पूर्वाभास थे। स्वप्न समाप्त होते ही बोधिसत्त्व जाग उठा और उनके अर्थों पर विचार करने लगा।

[१] **पहला स्वप्न;** बोधिसत्त्व ने अपना विशाल विराट रूप देखा। देखा कि वह भारत की संपूर्ण पावन धरती पर लेटा हुआ है, जो कि उसके लिए बिछावन बन गयी है। हिमालय का उत्तुंग शिखर उसका तकिया बना हुआ है। उसके पांव दक्षिण भारत (कन्याकुमारी) तक फैल गये हैं और दक्षिणी हिंद महासागर पर टिके हैं, जो कि उसका पाद-प्रक्षालन कर रहा है। दाहिना हाथ पश्चिमी समुद्र (अरब सागर) पर पड़ा है और बांया पूर्वी समुद्र (बंगाल सागर) पर, जो कि उसकी हथेलियों और अँगुलियों का प्रक्षालन कर रहे हैं। (अखंड भारतवर्ष का ऐसा संश्लिष्ट भौगोलिक चित्र इससे पूर्व कहीं देखने में नहीं आया।)

इस स्वप्न से यह बात स्पष्ट हुई कि अनगिनत कल्पों पहले भगवान दीपंकर सम्यक संबुद्ध ने तापस सुमेध के लिए जो आशीर्वादमयी भविष्यवाणी की थी, उसके फलीभूत होने का समय आ गया है– **धुवं बुद्ध भविस्ससि।**

यह उस भावी बुद्ध का विराट दर्शन था, जो कि साधारण मानवों की तुलना में असाधारणतया महान होगा। उसके महान प्रभावशाली व्यक्तित्व और जन-कल्याणी शिक्षा का प्रभाव सारे भारतवर्ष पर पड़ेगा और फिर दक्षिण, पूर्व और पश्चिमी समुद्रों द्वारा तथा उत्तरी हिमालय के रास्ते सारे विश्व में फैलेगा। (गंभीर विपश्यी साधक इस बात को खूब समझता है कि शरीर के पांचों अंतिम छोर – दो हाथ, दो पांव और सिर इनमें से प्रतिक्षण अनित्य-बोध की ऊर्जामयी धर्म-तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं। जो सम्यक संबुद्ध हो जाय उसका तो कहना ही क्या?)

[२] **दूसरा स्वप्न;** बोधिसत्त्व ने देखा कि उसके लेटे हुए विराट शरीर की नाभि से एक नन्हा-सा पौधा उगा है जो कि देखते-देखते शीघ्रगति से बढ़ता हुआ एक बालिश्त से एक हाथ, एक गज, एक बांस, एक योजन होता-होता हजारों योजन ऊंचा उठ गया और अनंत आकाश पर छा गया।

यह स्वप्न इस बात का द्योतक था कि भगवान बुद्ध की शिक्षा केवल धरती के मानवों के लिए ही नहीं होगी, बल्कि वह नभोमंडल के देव-ब्रह्माओं तक भी पहुँचेगी और उनका कल्याण करेगी। बोधिसत्त्व बुद्ध बन कर **सत्था देवमनुस्सानं** (देव और मनुष्यों के शास्ता) बनेंगे।

[३] **तीसरा स्वप्न;** बोधिसत्त्व ने देखा कि चारों ओर से नन्हें-नन्हें अनगिनत जीव उसके चरणों पर आ-आ कर गिर रहे हैं। वह सफेद रंग के हैं और काले सिर वाले हैं। बहुत शीघ्र इनकी संख्या इतनी बढ़ी कि ये जीव चरणों से ले कर घुटनों तक छा गये। यह स्वप्न इस बात का पूर्व संकेत था कि काले केश वाले और श्वेत वस्त्रों वाले अनेक गृहस्थ बुद्ध की चरण-शरण ग्रहण करेंगे और लाभान्वित होंगे। श्वेत वस्त्र और सिर के केश गृहस्थों के प्रतीक हैं। उनके वस्त्र भगवा नहीं, श्वेत हैं। उनका सिर मुंडित नहीं, केशों वाला है। याने वे गृहत्यागी नहीं, गृहस्थ हैं। गृहत्यागी भिक्षुओं और भिक्षुणियों के मुकाबले उनकी संख्या कई-कई गुणा अधिक होगी।

[४] **चौथा स्वप्न;** बोधिसत्त्व ने देखा कि चारों दिशाओं से चार वर्ण के पक्षी उड़ते हुए आये और उसकी गोद में आ गिरे। वे तत्काल अपना वर्ण त्याग कर शुभ्र श्वेत हो गये। इस स्वप्न का तात्पर्य था कि भगवान की सुखद गोद में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के लोग आयेंगे और भिक्षु जीवन

ग्रहण कर परम-विशुद्ध हो जायेंगे, अर्हंत अवस्था प्राप्त कर लेंगे। ऐसी अवस्था में वे अपना वर्ण-भेद त्याग देंगे। सभी एक समान हो जायेंगे। जैसे गंगा आदि विभिन्न नदियों का जल समुद्र में समा कर अपनी-अपनी पृथकता गँवा देता है, सब एक जैसा समुद्री-जल हो जाता है, वैसे ही सभी वर्णों के लोग भिक्षु-संघ में सम्मिलित होकर अपने पूर्व-काल की पृथकता को खो देंगे। सभी शुद्ध सद्धर्म में समा जायेंगे।

[५] **पांचवां स्वप्न;** बोधिसत्त्व ने देखा कि गंदगी और मल का एक बड़ा-सा टीला है, जिस पर वह चंक्रमण कर रहा है, चहलकदमी कर रहा है। पर उसे जरा-सी भी मैल नहीं छू पाती। इस स्वप्न ने इस सच्चाई की ओर संकेत किया कि परम सत्य की खोज के लिए तो बोधिसत्त्व को निवृत्ति मार्ग अपना कर मानव समाज से दूर वनप्रदेश में रहना पड़ा, पर संबोधि प्राप्त करने के बाद असीम करुणा-भरे चित्त से लोकमंगल के लिए उसी मानव समाज में रहना आवश्यक होगा, जो गंदगी से भरा हुआ है। उसे मुक्ति का मार्ग सिखाना होगा। पूर्व पत्नी, पुत्र, माता, भाई आदि परिवार के अन्य लोग भी आ जुटेंगे। सम्यक संबुद्ध सब पर करुणा बरसायेंगे। उनके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करेंगे। पर जीवन निरासक्त जीएंगे। ढेर सारे चीवर, दवा, भोजन, आवास, विहार दान में मिलेंगे, पर अपने लिए स्वीकार उतना ही करेंगे, जितना जीवन जीने के लिए आवश्यक होगा। गंदगी में उलझे समाज के बीच रहेंगे, पर सर्वथा निःसंग, निःस्पृह, निर्लिप्त और निरासक्त।

जिस समय इन स्वप्नों के अर्थों पर चिंतन चल रहा था, उस समय सेनानी ग्राम वाली सुजाता की दासी आयी और उन्हें देख गयी। उन्हें वटदेव समझ कर उसने इसकी सूचना अपनी मालकिन को दी। चिंतन समाप्त होते-होते सुजाता खीर-भरा पात्र लेकर आयी, जिसके ४९ कौर खा कर बोधिसत्त्व ध्यान में लग गया।

इस घटना के बाद २४ घंटे बीतते-बीतते, याने अगली रात की पूर्णिमा का चांद पश्चिम में ढलते-ढलते, बोधिसत्त्व ने बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि प्राप्त की। वे अनुत्तर सम्यक संबुद्ध हुए और बोधिसत्त्व की अवस्था में देखे गये स्वप्न एक-एक करके सभी सत्य साबित हुए। बड़ा लोक-मंगल हुआ। सचमुच बड़ा ही लोक-मंगल हुआ। बड़ा लोक कल्याण हुआ, सचमुच बड़ा ही लोक-कल्याण हुआ!

———————

४. बुद्ध-जयंती

वैशाख पूर्णिमा। भगवान गौतम बुद्ध की त्रिविध जयंती का पावन दिवस। जन्म-जयंती, बोधि-जयंती, परिनिर्वाण-जयंती। जयंती माने विजय। विजय वस्तुतः बोधि की ही है। बोधि-जयंती में ही जन्म-जयंती और परिनिर्वाण-जयंती का मूल समाया हुआ है।

सम्यक संबोधि जागी तो ही मार पर विजय प्राप्त हुई। पाप पर, अधर्म पर, समस्त बंधनों पर विजय प्राप्त हुई। ऐसी विजय जिसने जन्म-मृत्यु की जयंतियों को सफल सार्थक बना दिया। सम्यक संबोधि के कारण ही जन्म अंतिम जन्म बन गया, मृत्यु अंतिम मृत्यु बन गयी। **अयं अन्तिमा जाति, नत्थिदानि पुनब्भवोति।** यह अंतिम जन्म है। अब पुनर्जन्म नहीं होगा। पुनर्जन्म नहीं होगा तो पुनर्मृत्यु भी नहीं होगी। जन्म और मृत्यु दोनों पर सहज ही विजय प्राप्त हो गयी।

इस महापुरुष की यह महान विजय अन्य बहुतों की विजय का कारण बन गयी। बहुतों के मंगल-कल्याण और स्वस्ति-मुक्ति का साधन बन गयी। अनेक कष्टों से गुजरते हुए इस महामानव ने भारत की खोई हुई मुक्तिदायिनी धर्मगंगा पुनः खोज निकाली। उससे केवल अपनी ही मुक्ति नहीं साधी, बल्कि बहुतों के लिए मुक्ति सुलभ कर दी। अत्यंत करुणा-विगलित हृदय से जीवन भर जन-जन को यह विद्या बांटते रहे। जन-जन के लिए अमृत का द्वार खोलते रहे। इस प्रकार लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व जो धर्मगंगा फूट पड़ी, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोटि-कोटि लोगों का कल्याण करती हुई, कहीं-न-कहीं परम परिशुद्ध रूप में प्रवाहमान बनी ही रही। समय पाकर कहीं विलुप्त भी हुई, कहीं नासमझ लोगों द्वारा सम्मिश्रण के दोष से दूषित होकर विकृत भी हुई, परंतु एक क्षीण धारा इतनी सदियों तक भी अपने शुद्ध रूप में कायम रही। कायम रही तो ही हमें प्राप्त हुई। हमारे कल्याण-मंगल का, स्वस्ति-मुक्ति का कारण बनी।

विपश्यी साधक इस शुद्ध धर्मगंगा में अवगाहित होकर धन्य हो उठता है तो स्वभावतः उस महापुरुष के प्रति असीम श्रद्धा और कृतज्ञता के भाव से भर उठता है। श्रद्धा और कृतज्ञता धर्म के अविभाज्य अंग हैं। श्रद्धा बोधि का अंग है। श्रद्धा बीज है, जिसकी वजह से ही बोधि जागती है, धर्म फल देता है।

कृतज्ञता प्राणदायिनी संजीवनी है, जिसके कारण धर्म बलशाली होता है। श्रद्धा और कृतज्ञता न हो तो धर्म का बिरवा मुरझा जाय। श्रद्धा और कृतज्ञता का पनपना धर्म का ही पनपना है। पर समझदार साधक सजग रहता है, अपना विवेक नहीं खोता। श्रद्धा को अंधश्रद्धा नहीं बनने देता। कृतज्ञता को अंधकृतज्ञता नहीं बनने देता। तो ही धर्म पनपता है। धर्म बलदायी होता है, फलदायी होता है।

अन्यथा जैसे ही श्रद्धा अंधश्रद्धा बन जाती है, कृतज्ञता अंधकृतज्ञता बन जाती है, धर्म क्षीण होने लगता है, संप्रदाय बलवान बनने लगता है। संप्रदाय बलवान बनता है तो भोला मानव धर्म को भी संप्रदाय के रंगीन चश्मे से ही देखता है। धर्म का यथाभूत शुद्ध स्वरूप देख ही नहीं पाता। संप्रदाय बलवान बन जाता है, तो प्रत्यक्षानुभूति के बिना ही कोई न कोई दार्शनिक मान्यता भूत की तरह सिर पर सवार कर लेता है। धर्म को उस मान्यता के रंगीन चश्मे से ही देखता है, धर्म का यथाभूत शुद्ध स्वरूप देख ही नहीं पाता। संप्रदाय बलवान हो जाता है तो निर्जीव कर्मकांड प्रधान हो जाते हैं, थोथी रूढ़ियां प्रधान हो जाती हैं। धर्म-धारण करना गौण हो ही जाता है।

इसीलिए साधको! आओ, आज के इस पावन दिवस पर एक ओर श्रद्धा और कृतज्ञता को बलवान बनाएं, जिससे कि धर्म हरा-भरा बना रहे; दूसरी ओर विवेक जगाए रखें। श्रद्धा और कृतज्ञता को अंधी न बनने दें, जिससे कि धर्म सांप्रदायिकता के दलदल में फँस कर डूब न जाय। श्रद्धा और कृतज्ञता को निर्मल बनाये रखें, जिससे बोधि पुष्ट हो, अज्ञान क्षीण हो, विद्या का प्रकाश प्रज्वलित हो, अविद्या का अंधकार क्षीण हो। इसी में हमारा सच्चा मंगल, सच्चा कल्याण, सच्ची स्वस्ति-मुक्ति समायी हुई है।

———————

धर्मचक्र कथा

१. सम्यक साधना

१. सम्यक साधना

कपिलवस्तु की शाक्यदेशीय पट्टमहिषी महामाया को एक रात एक सुखद स्वप्न आया। उसने देखा कि एक अत्यंत भव्य शांत श्वेत हाथी अपनी सूंड़ में एक प्रफुल्लित श्वेत कमल लिए मधुर नाद करता हुआ शय्या की तीन बार प्रदक्षिणा कर उसकी कोख में प्रवेश कर गया है। प्रातः महाराज शुद्धोदन ने यह बात सुनी तो स्वप्न का अर्थ जानने के लिए चौंसठ लक्षणशास्त्रीय वेदज्ञ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। उनमें से आठ ब्राह्मणों ने अत्यंत निश्चयपूर्वक कहा कि महारानी ने गर्भ धारण किया है और उसके गर्भ में किसी महापुरुष ने प्रवेश किया है। इन आठों में एक था कौंडण्य जो इनमें सब से कम उम्र का युवा ब्राह्मण था। पर बड़ा मेधावी था। स्वप्नलक्षण और शरीरलक्षण-विद्या में पारंगत था।

दस महीने बाद जब महारानी ने पुत्र जन्मा तो महाराज शुद्धोदन ने फिर एक सौ आठ वेदज्ञ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। बालक का भविष्य जानने की तीव्र उत्कंठा थी उनके मन में। उन्हीं आठ ब्राह्मणों ने अपनी विद्या के बल पर भविष्यवाणी की। उनमें से सात ने दो उँगलियां उठाइऱ् और कहा कि यह बालक बड़ा होकर यदि गृहस्थ रहा तो समग्र देश का चक्रवर्ती सम्राट होगा और गृहत्यागी हुआ तो सम्यक संबुद्ध होगा। युवा कौंडण्य ने बालक में महापुरुष की शरीर-लक्षण-संपदा देखी। उसने केवल एक उँगली उठाई और दृढ़तापूर्वक कहा कि इस बालक का केवल एक ही भविष्य है। यह गृहत्यागी होगा और सम्यक संबुद्ध बनेगा। दूसरा कोई विकल्प नहीं।

कौंडण्य अब प्रौढ़ हो चला। अपनी भविष्यवाणी सिद्ध होने की उसने उनतीस वर्ष तक उत्कट प्रतीक्षा की। जब उसने सुना कि राजकुमार सिद्धार्थ गौतम राजमहलों के वैभव-विलास त्यागकर संन्यासी हो गया है तो उसके मन में तीव्र धर्मसंवेग जागा। राजकुमार बत्तीस शरीर-लक्षणों का धनी है। समय पाकर वह अवश्य ही मुक्ति का मार्ग खोज निकालेगा और विवृत कपाट सम्यक संबुद्ध बनेगा। क्यों न मैं भी अपना जीवन सार्थक कर लूं। इस महापुरुष के साथ तपूंगा तो जिस विद्या से वह जीवन्मुक्त होगा, उसी को अपना कर मैं भी अपना जीवन सफल कर लूंगा।

कौंडण्य ने गृह त्यागने का निर्णय किया। उस समय उसे अपने सात अन्य ब्राह्मण साथी याद आये, जिन्होंने गर्भ-प्रवेश और जन्म पर उसके समान भविष्यवाणी की थी। वे सातों उस समय भी बहुत वृद्ध थे। इन उनतीस वर्षों में आयु पकने पर एक-एक करके सभी काल-कवलित हो गये। वह उनके पुत्रों से मिला। सातों के एक-एक पुत्र थे। प्रत्येक को उनके पिता द्वारा की गयी भविष्यवाणी की याद दिलाई, जिसके अनुसार गृह त्यागने पर राजकुमार सम्यक संबुद्ध होगा ही। क्यों न इसका लाभ उठाया जाय? उन सातों में से केवल चार ही कौंडण्य का साथ देने के लिए तैयार हुए। तीन ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। कौंडण्य इन चारों के साथ तपस्वी राजकुमार की खोज में निकल पड़ा। कुछ दिनों के बाद ही उरुवेला क्षेत्र में बोधिसत्त्व सिद्धार्थ से इनकी भेंट हो गयी। कौंडण्य और उसके साथी वप्प, भद्दिय, महानाम और अश्वजित, पांचों ब्राह्मण-कुमार बुद्ध-अंकुर का साथ देने लगे। बड़े मनोयोग से उसकी सेवा करने लगे।

इसके पूर्व सिद्धार्थ तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध ध्यानयोगी आलारकालाम तथा उद्दकरामपुत्त के यहां एक-एक सप्ताह रुक कर आठों ध्यान समापत्तियां सीख चुका था। ये गहरी समाधियां उस समय के भारत के साधना-क्षेत्र की उच्चतम उपलब्धियां थीं। इन्हें प्राप्त करके भी बोधिसत्त्व ने देखा कि वह पूर्ण मुक्त नहीं हो सका है। अंतर्मन की गहराइयों में अभी अनेक जन्मों की संचित जड़ें संगृहीत हैं। भवंग चित्त में विकारों की ये सुषुप्त जड़ें, ये अनुशय क्लेश, अनुकूल समय और पर्यावरण पाकर फिर अंकुरित हो सकते हैं। इस आलय-चित्त के निरालय बने बिना, भव-मुक्ति नहीं। चित्त की तलस्पर्शी गहराइयों तक विकार-विमुक्त हुए बिना भवनेत्री नहीं कटती। इन आठों ध्यानों की साधना से, मरने पर भवाग्र अरूप ब्रह्मलोक में जन्म होगा, जहां असंख्य कल्पों का सुदीर्घ आयुष्य प्राप्त होगा; पर अंततः उसकी भी अवधि पूरी होने पर किसी न किसी सुषुप्त विकार की उदीरणा होने पर, किसी न किसी लोक में फिर जन्म लेना होगा और यह भवचक्र चलता ही रहेगा। सुषुप्त चित्त में विकारों के रहते जन्म-मरण के चक्र से नितांत छुटकारा नहीं हो सकता। अतः ऐसा कोई और रास्ता अपनाना चाहिए, जिससे कि चित्त नितांत विमुक्त हो सके।

उन दिनों की एक बहुप्रचलित मान्यता थी कि देह-दंडन से विकार-विमुक्ति होती है। बोधिसत्त्व ने इसे भी आजमा कर देखना चाहा। वह काय-क्लेश की घोर दुष्कर तपश्चर्या में लग गया। कौंडण्य आदि पांच साथियों ने लगभग छः वर्षों तक उसका साथ दिया, उसकी सेवा परिचर्या की। बोधिसत्त्व

का काय-कष्टीय तप पराकाष्ठा तक पहुँच चुका। उसने अपने शरीर को तीक्ष्ण कांटों की शय्या पर सुलाया। शीतकाल में अत्यंत शीत और उष्णकाल में अत्यंत उष्ण पर्यावरण में ठिठुराया और झुलसाया। ऐसे कृत्रिम कुंभक किये कि दृढ़तापूर्वक दीर्घकाल तक दम घुटा-घुटा कर, शरीर में शूल चुभने वाली असह्य उदर-पीड़ा और शिरोपीड़ाएं पैदा कीं। उपवास किए तो ऐसे कि छः वर्षों में अपने सुवर्ण-वर्ण सुंदर शरीर को जर्जरित कर लिया। सारा शरीर हड्डियों का कंकाल-मात्र बन गया; पर आध्यात्म लाभ कुछ नहीं हुआ। अनुशय चित्त-विकार कायम ही रहे। उनकी निर्जरा न हुई। उनका क्षय न हुआ। सारा श्रम निरर्थक साबित हुआ।

अब क्या करे? कोई अन्य रास्ता ढूंढ़ना चाहिए। बोधिसत्त्व को बचपन की एक घटना याद आयी। उस दिन खेत जोतने और बोने का मंगल महोत्सव था। प्रजा के साथ राजा भी खेत जुताई करता था। वही आरंभ करता था, इस महोत्सव को। बड़ी धूम-धाम के साथ, सजधज कर लोग इस आयोजन में सम्मिलित होते थे। राजा शुद्धोदन ने हल पकड़ा और जोतने का मंगल कार्य आरंभ किया। पुरुष-वर्ग उसके साथ जुड़ गया। महिलाएं दर्शकों की तरह चारों ओर एकत्र हो गइर्। शिशु राजकुमार की सेवा में अनेक कुशल सेविकाएं नियुक्त थीं। वे भी इस मंगल उत्सव में राजकुमार को ले कर खेत के समीप पहुँची। शिशु राजकुमार को एक घने जंबु-वृक्ष के तले मुलायम गद्दे पर सुला कर उसकी देखभाल करने लगीं। परंतु उत्सव के आकर्षण ने उन्हें सेवाच्युत किया। वे सभी खेत के किनारे राजा द्वारा हल जोतने का उत्सव-मंगल देखने में तल्लीन हो गयीं। इधर शिशु राजकुमार जागा। किसी को समीप न देख कर पालथी मार कर बैठ गया और शीघ्र ही ध्यानावस्थित हो गया। अब उसे याद आया कि उस समय वह केवल सांस को ही देखने लगा था। सहज स्वाभाविक सांस जैसे भी आ रही थी, जैसे भी जा रही थी, बस उसकी जानकारी पर मन लग गया था। सांस की कोई कसरत नहीं थी। सांस पर कोई नियंत्रण नहीं था। हठपूर्वक सांस रोकने का जरा भी आग्रह नहीं था। अनायास आते-जाते सांस को तटस्थ भाव से देखते-देखते किस प्रकार स्वतः कुंभक लग गया था। जरा भी घुटन नहीं थी। वह घंटों इसी प्रकार ध्यानावस्थित बैठा रहा।

उस ओर खेत पर महोत्सव का कार्यक्रम निर्बाध गति से चलता रहा। लोग उत्सव-मंगल मनाते रहे। दासियां खेत की मेंड़ पर बैठी आमोद-प्रमोद में लीन रहीं। मध्याह्न का सूरज ढल कर दूर पश्चिम की ओर लुढ़कने लगा, तब उन्हें होश आया। राजकुमार पेड़ के नीचे अकेला सो रहा है। ढलते हुए सूरज की

तिरछी धूप उसे अवश्य कष्ट पहुँचाती होगी। वे दौड़ी-दौड़ी जंबु-वृक्ष के पास पहुँची। देखा, तो आश्चर्यचकित रह गइर्। शिशु राजकुमार पालथी मारे समाधिस्थ बैठा है और प्रकृति स्वयं उसकी देखभाल कर रही है। सूरज ढलने के कारण सभी पेड़ों की छाया पूरब की ओर लंबी फैल गयी थी, परंतु महान आश्चर्य! इस अकेले जंबु-वृक्ष की छाया वैसे ही गोलाकार छायी हुई थी। शिशु-योगी पर चँदोवा-सा तना हुआ है। कहीं धूप का नामोनिशान नहीं। पिता शुद्धोदन ने जब यह चमत्कार देखा तो दूसरी बार श्रद्धा-विभोर हो, अपने पुत्र को नमस्कार किया।

चमत्कार! चमत्कार! इस समय बोधिसत्त्व के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं था। महत्त्व था साधना-विधि का। इस साधना-विधि को भी अपना कर देखना चाहिए जो उसे अनायास ही शैशव अवस्था में सध गयी थी। मैं फिर एक बार सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन को निष्प्रयास साक्षीभाव से देखने का काम शुरू करूं, कौन जाने इसी से आगे का रास्ता खुल जाय और मुक्ति का मार्ग हाथ लग जाय।

परंतु उसने सोचा इस सहज मार्ग के लिए अतियों की साधना छोड़नी होगी। मृतप्राय-कृशकाय अवस्था में ऐसी सम्यक साधना नहीं हुआ करती। शरीर यथावश्यक स्वस्थ हो, सबल हो तो ही यह साधना सिद्ध होगी। युक्ताहार-विहार से काम शुरू करना होगा। उपवास की अतियों-भरी साधना छोड़ कर यथोचित आहार ग्रहण करना होगा। अतः भिक्षाटन द्वारा प्राप्त आहार ग्रहण किया और नया प्रयोग आरंभ किया।

यह देख कौंडण्य सहित पांचों साथी विचलित हो उठे। उनकी दृष्टि में राजकुमार योग-च्युत हुआ, तप-भ्रष्ट हुआ। दुष्कर तपश्चर्या सहन न कर सका, अतः कष्ट त्याग कर आहार ग्रहण करने लगा। ऐसा व्यक्ति भला कैसे सम्यक संबुद्ध बन सकता है? कौंडण्य को अपने लक्षणशास्त्र के ज्ञान पर बहुत आस्था थी और इस व्यक्ति में महापुरुष होने के बत्तीस शरीर-लक्षण विद्यमान हैं, सम्यक संबुद्ध होने की पूरी संभावना है। इसी विश्वास के सहारे जीवन के उनतीस वर्ष प्रतीक्षा में गुजारे और पिछले छह वर्ष इसके सान्निध्य में, इसकी सेवा में गुजारे। पर अब तो आस्था की धरती हिल गयी। यह व्यक्ति मुक्त अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता। जब कौंडण्य का विश्वास डगमगा गया और उसी का मानस विचिकित्सा से, शंका-संदेह से भर उठा तो बाकी चार साथियों का तो कहना ही क्या! वे तो अपने-अपने पिता की भविष्यवाणी के बल पर ही साथ हुए थे। उनकी आस्था सहज ही डगमगा उठी।

पांचों ब्राह्मण-कुमारों को अपनी-अपनी परंपराजन्य दार्शनिक मान्यता की आसक्ति तो थी ही; साथ ही शीलव्रत परामर्श यानी अतियों की ओर ले जाने वाले शील तथा अतियों की ओर ले जाने वाले कठोर व्रतों के प्रति भी गहरी आसक्ति थी। अब मन में घोर विचिकित्सा भी पैदा हो गयी। इस युवा योगी के प्रति, इसकी सफलता के प्रति, इसके द्वारा चुने गये नये मार्ग के प्रति शंका-संदेह पैदा हो गये और परिणामस्वरूप पांचों के पांचों बोधिसत्त्व को अकेला छोड़ कर वाराणसी की ओर चल दिये। यह व्यक्ति मुक्ति-पथ का पथिक नहीं। हम कोई अन्य रास्ता देखेंगे।

इधर बोधिसत्त्व निष्ठापूर्वक सम्यक साधना में लग गया। सम्यक आहार से शरीर सबल हुआ, सम्यक साधना के अनुकूल हुआ तो वैशाख पूर्णिमा की रात बोधिवृक्ष के तले दृढ़तापूर्वक पालथी मार कर बैठ गया और आनापान की साधना शुरू कर दी। शुद्ध सांस के प्रति जागरूक रहते-रहते चित्त एकाग्र होने लगा। रात्रि के प्रथम प्रहर में ही असंख्य पूर्वजन्मों की स्मृतियां जाग उठीं और देखा कि न जाने कितनी बार विपश्यना साधना की है, परंतु सम्यक संबुद्ध बनने का संकल्प होने के कारण, सारी पारमिताओं की परिपूर्णता न होने के कारण, इंद्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार न हो सका। अब समय पका है। सारी पारमिताएं पूर्णता को प्राप्त हो चुकी हैं। अंतर में जागी हुई पुरानी विपश्यना साधना के सहारे काम करते-करते रात्रि के अंतिम प्रहर में सारे अनुशय क्लेशों का, सुषुप्त-आस्रवों का क्षय हुआ। आलय-चित्त निरालय हुआ, विकार-विमुक्त हुआ। सम्यक संबोधि जागी। आस्रव-विहीन वीतराग योगी सम्यक संबुद्ध बन गया। भवनेत्री टूटी। यह अंतिम भव है। अब और जन्म नहीं होगा।

संबोधि पाने के बाद सात सप्ताह बोधिवृक्ष के तले अथवा उसके आसपास विमुक्ति के परम सुख में बिताये। फिर जब सरसरी तौर पर संसार का चिंतन किया तो एक बार यूं लगा कि नाना प्रकार के मतमतांतरों, दार्शनिक मान्यताओं, थोथे कर्मकांडों और सांप्रदायिक जंजालों की आसक्तियों में डूबे हुए लोग इस सूक्ष्म-गंभीर धर्म को समझ ही नहीं पायेंगे। ग्रहण कैसे करेंगे? परंतु फिर देखा कुछ लोग पके हुए हैं, उनके मानस पर बहुत क्षीण आवरण है, उनकी पुण्य-पारमिताएं प्रबल हैं; ऐसे लोग धर्म का लाभ लेंगे। ऐसे लोगों को धर्म-रत्न प्रदान करना ही चाहिए। जो धर्मचक्र मेरे भीतर चला और जिसने मेरा भवचक्र ध्वंस किया, वही धर्मचक्र अन्य लोगों के भीतर भी चलना चाहिए। सभी योग्य लोगों के भीतर चलना चाहिए। उन सब के भवचक्र विध्वंस होने चाहिए। बहुजन का हित-सुख सधना चाहिए।

इन लोकमंगल के भावों से भगवान सम्यक संबुद्ध का मन आप्लावित हो उठा। धर्मचक्र-प्रवर्तन का समय समीप आया।

----

२. धर्मचक्र-प्रवर्तन

धर्मचक्र-प्रवर्तन किससे आरंभ करें? पहले किसे धर्म बांटें? कौन योग्य पात्र है?

तथागत के अंतर में करुणा के साथ कृतज्ञता का भाव जागा। गृह त्यागने के बाद आचार्य आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त से क्रमशः सातवां एवं आठवां ध्यान सीखा था। वे दोनों ही योग्य हैं। इस गंभीर धर्म को खूब समझेंगे और इस कल्याणकारी विधि को अपना कर अपना कल्याण साध लेंगे। फिर बोधिनेत्र से देखा तो पता चला कि सात दिवस पूर्व पहले की और एक दिवस पूर्व दूसरे की शरीर-च्युति हो गयी है। दोनों सातवीं और आठवीं ध्यान समापत्तियों के साधक होने के कारण अब अरूप ब्रह्मलोक में जन्मे हैं। अरूप ब्रह्मलोक में उन्हें विपश्यना कैसे सिखायी जाय? सिखाने वाले में क्षमता की कमी नहीं। भवाग्र ब्रह्मलोक में सम्यक संबुद्ध की गति भी अशक्य नहीं। वहां जाकर उनसे संपर्क किया जा सकता है। परंतु अरूप ब्रह्मलोक के प्राणी विपश्यना कर नहीं सकते। उनका जीवन बिना रूप के यानी बिना शरीर के होता है। केवल नाम यानी केवल चित्त। विपश्यना की साधना अपने ही नाम और रूप दोनों के मिले जुले प्रपंच-दर्शन की साधना है, ताकि इन दोनों से और इनसे संबंधित इंद्रियों के प्रपंचों से छुटकारा पाया जा सके। अरूप ब्रह्मलोक के प्राणी विपश्यना के अधिकारी नहीं। अतः किसी और से शुरू करना होगा।

फिर करुणा के साथ कृतज्ञता का भाव जागा। स्मरण हो आये कौंडण्य, भद्दिय, वप्प, महानाम और अश्वजित। वे पांच ब्राह्मण जो लगभग छह वर्ष तक सेवा में रत रहे, दुष्कर तपश्चर्या में साथ रहे। भले नासमझी के कारण रुष्ट होकर छोड़ गये, पर हैं योग्य पात्र। अवश्य ही सद्धर्म को समझ कर और उसे धारण कर मुक्त हो सकेंगे। उनसे ही आरंभ करना चाहिए। बोधिनेत्रों से देखा तो पता चला कि वे इस समय वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन मृगदाय प्रदेश में टिके हुए हैं।

प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए भगवान उरुवेला (बोधगया) से ऋषिपत्तन मृगदाय (आधुनिक सारनाथ) की ओर चल दिए। पांचों संन्यासियों ने भगवान को दूर से आते देखा। उनका मानस पूर्वाग्रहों से ग्रसित था। देखो, यह भ्रष्ट योगी चला आ रहा है। उपवास त्याग कर भरपेट खाने-पीने लगा।

दुर्बल-चित्त व्यक्ति है। अधिक कष्ट न सह सकने के कारण तप त्याग बैठा। सुख आराम तथा लाभ सत्कार की ओर झुक गया। त्याग-तपस्या करते हुए जो सम्यक संबुद्ध न बन सका, वह तप-च्युत होकर कैसे बनेगा भला? यह तो ऐसे ही असंभव है जैसे कि हवा में गांठें बांधना, जैसे कि हवा को जाल में बांधना।

यह हमारी ही ओर बढ़ा आ रहा है। भले आये। पर हम इसका कोई आदर-सत्कार नहीं करेंगे। आवभगत नहीं करेंगे। न उठ कर नमस्कार करेंगे, न आगे बढ़ कर इसका पात्र-चीवर लेंगे। इक्ष्वाकु क्षत्रिय-वंश में जन्मा है, इसलिए आसन का अधिकारी है। अतः हम इसके लिए एक आसन अवश्य देंगे। चाहे तो बैठे। इससे अधिक और कुछ नहीं।

भगवान समीप आते गये। न केवल मुखमंडल पर प्रत्युत उनके सारे शरीर पर प्रभामंडल प्रकीर्ण हो रहा था। पांचों उनसे आकर्षित हुए बिना न रह सके। उनके अणु-अणु से मैत्री की तरंगें प्रवाहित हो रही थीं। पांचों इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। वे एकाएक अपने संकल्प को भूल बैठे। भगवान के समीप आते ही सब ने उठ कर उनका अभिवादन किया। एक ने आगे बढ़ कर उनके हाथ से पात्र-चीवर ले लिया। एक ने आदरपूर्वक आसन बिछाया। एक ने पांव धोने के लिए पानी का पात्र पास रखा। एक ने पैर रखने का पीढ़ा पास रखा और एक ने पांव रगड़ने की लकड़ी पास रखी। भगवान बिछे हुए आसन पर बैठे। अपने पांव धोये। फिर बातचीत शुरू हुई।

पांचों के मन में अभी संदेह का कुहरा छाया हुआ था। वे भगवान का आयुष्यमान कह कर संबोधन कर रहे थे, जैसे आज भी अपने से छोटे को चिरंजीव कहा जाता है और बड़े को पूज्य, वैसे ही उन दिनों भी अपने से छोटे को आयुष्यमान कहते थे अथवा उसका नाम लेकर संबोधन करते थे। उनकी नजरों में तथागत उनसे उम्र में ही नहीं, बल्कि ज्ञान की उपलब्धि में भी छोटे थे, क्योंकि तपच्युत जो हो गये थे।

भगवान ने उनकी भूल सुधारते हुए समझाया कि तथागत को नाम लेकर अथवा आयुष्यमान कह कर न पुकारना चाहिए। वे अब अमृतदर्शी सम्यक संबुद्ध हो गये हैं। परंतु उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था। व्रत उपवासों से ही मुक्ति मिलने की मान्यता के प्रति उनका अभिनिवेश इतना गहरा था कि वे भगवान की बात सुनने को तैयार नहीं थे। आखिर भगवान ने कहा कि मैंने सम्यक संबुद्ध होने का दावा इसके पहले कभी नहीं किया। अब हुआ हूं तो ही कह रहा हूं। यह सुन कर कौंडण्य ने सोचा शायद यह व्यक्ति झूठ नहीं बोल रहा। राजमहलों में राजकुमार का जीवन जीते हुए भी सत्यवादिता के बारे में इसकी

बड़ी प्रसिद्धि थी। हमारे साथ छह वर्ष रहते हुए भी इसने कभी मिथ्या वचन नहीं कहा। कौन जाने सम्यक संबुद्ध हो ही गया हो। फिर भगवान के देदीप्यमान चेहरे की ओर देखा। उस पर छायी हुई करुणा और मैत्री की आभा की ओर देखा तो और आश्वस्त हुआ। फिर महापुरुषों के बत्तीस शरीर-लक्षणों की ओर ध्यान गया। शरीर-लक्षण शास्त्रों पर किए अपने गहरे अध्ययन पर ध्यान गया तो श्रद्धा जागी, विश्वास बढ़ा। भगवान का उपदेश सुनने के लिए मानस तैयार हुआ।

बाकी चारों के मन में अभी भी गहरा शक था, संदेह था, विचिकित्सा थी। अतः मानस धर्म-ग्रहण करने योग्य नहीं था। इसीलिए भगवान बुद्ध का उपदेश सुना तो पांचों ने, परंतु कौंडण्य को जो तत्काल लाभ हुआ, वह अन्य चारों को नहीं। कौंडण्य धर्मदेशना सुनते-सुनते ही अपने भीतर उदय-व्यय की सच्चाई अनुभव करने लगा और अपने पूर्व-जन्मों में संचित पुण्य-पारमिताओं के कारण अनुभूति के स्तर पर इस सच्चाई को जान गया कि जो कुछ समुदयधर्मा है, वह निरुद्धधर्मा भी है। एऐंद्रिय जगत की सारी अनुभूतियां समुदयधर्मा हैं। उसने देखा, कारणों से उनका समुदय होता है। उसने देखा, विपश्यना करते-करते उन सब का निरोध हो गया है। नाम और रूप पर आधारित छहों इंद्रियां और छहों इंद्रियों के विषय साक्षीभाव से देखते-देखते निरुद्ध हो गये। इंद्रियातीत परम-सत्य का पहली बार साक्षात्कार हुआ। कौंडण्य धन्य हुआ। उसका गोत्र बदला। वह अनार्य से आर्यगोत्र में प्रतिष्ठित हुआ, स्रोतापन्न हुआ। बाकी चारों स्रोतापन्न नहीं हो सके, परंतु उनकी विचिकित्सा दूर हुई। सद्धर्म के प्रति, कुदरत की सच्चाइयों के प्रति उनमें श्रद्धा जागी, आस्था जागी और वे भी अपनी-अपनी संगृहीत पुरानी पारमिताओं के आधार पर मुक्तिपथ पर आगे बढ़ सकने योग्य हुए। दूसरे दिन भगवान ने विपश्यना का मार्गदर्शन देकर वप्प स्थविर को स्रोतापन्न-अवस्था तक पहुँचने में सहायता की, तीसरे दिन भद्दिय को, चौथे दिन महानाम को और पांचवें दिन अश्वजित को। इस प्रकार जब पांचों स्रोतापन्न हुए तो दूसरे धर्मोपदेश "अनात्म लक्षण सूत्र" की देशना की, जिसे सुन कर पांचों की विपश्यना गहराइयों से जागी और पांचों के पांचों सकदागामी और अनागामी अवस्थाओं में से गुजरते हुए नितांत विमुक्त हुए। पंचवर्गीय भिक्षु अरहंत हुए।

क्या था सम्यक संबुद्ध का वह प्रथम उपदेश जिसने लोकचक्र में पिसते हुए लोगों में धर्मचक्र जगाने का शुभारंभ किया और इसीलिए धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र कहलाया? वैसे तो यह अपने पांच साथी संन्यासियों को दिया गया था, परंतु

वस्तुतः समस्त मानव जाति को दुःखविमुक्ति-हेतु भगवान बुद्ध का यह प्रथम मार्ग-निर्देशन था, जिसके व्याख्यान-व्याकरण में, विवरण-विश्लेषण में ४५ वर्षों तक उनके हजारों उपदेश हुए। यह प्रथम उपदेश ही उनकी समस्त शिक्षा का आधार बना।

आओ, समझें क्या था यह उपदेश? कैसा था यह धर्मचक्र-प्रवर्तन?

पांचों श्रोताओं के मन में कमोबेश यह संदेह था कि कठोर तप का मार्ग त्याग कर सिद्धार्थ गौतम ने उचित नहीं किया। अतः उपदेश आरंभ करते हुए उनकी तथा उन जैसे बहुतों की शंकाओं का निवारण करते हुए सही मार्ग प्रशस्त किया।

कोई व्यक्ति प्रव्रजित होता है तो सुखद परंतु काम-भोग और विषय वासनाओं में उलझाए रखने वाले मार्ग का परित्याग करता है। लेकिन प्रतिक्रियास्वरूप देह-दंडन के ऐसे दुःखद मार्ग पर चलने लगता है जो कि अध्यात्म की प्रगति में बाधक बन जाता है। दोनों ही अतियों के मार्ग हैं। दोनों से बचना चाहिए।

एक को कहा – **कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो**

– यानी काम-सुखों की गंदगी के चिपकाव में चिपके रहना यह एक चरम सीमा वाला मार्ग है जो –

हीनो – यानी हीन है, घटिया है, हल्का है।

गम्मो – यानी गँवारू है। यद्यपि सुख-भोग की सारी सामग्रियां हर युग में नगर वालों को ही सुलभ होती हैं, फिर भी यह मार्ग नागर नहीं, गँवारू है; यानी समझदारों का नहीं, गँवारों का है।

पोत्थुज्जनिको – यानी ऐसे लोगों का मार्ग है जो शुद्ध धर्म के मार्ग से पृथक हो गये हैं, इसीलिए पुथुज्जन यानी पृथग्जन कहलाते हैं।

अनरियो – याने अनार्य लोगों का मार्ग है। ऐसा मार्ग है, जिस पर चल कर कोई व्यक्ति आर्य बन ही नहीं सकता। अनार्य ही बना रहता है; यानी मुक्ति के प्रथम सोपान स्रोतापन्न अवस्था तक भी नहीं पहुंच पाता।

अनत्थसंहितो – अनर्थों से युक्त है। ऐसे मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कभी अपना भला नहीं कर सकता। अर्थ-सिद्ध नहीं कर सकता। अनर्थ ही संग्रह करता है।

इसी प्रकार अतियों वाले दूसरे मार्ग को कहा गया –

अत्तकिलमथानुयोगो – यानी आत्मक्लेश का मार्ग। अपने आप को एक न एक शारीरिक क्लेश में लगाये रखने का मार्ग।

यह दूसरी चरम सीमा वाला मार्ग है जो –

दुक्खो – यानी दुखमय है। दुखों से छुटकारा देने वाला नहीं। एक के बाद एक नए दुखों का उत्पाद करते रहने वाला है।

अनरियो – यानी यह भी पहले की तरह ऐसा मार्ग है, जिस पर चलने वाला कभी आर्य नहीं बन सकेगा, सदा अनार्य ही बना रहेगा।

अनत्थसंहितो – यानी यह भी पहले की भांति अनर्थकारी है।

अतियों के इन दोनों अनर्थकारी मार्गों को त्याग कर तथागत ने ऐसी मज्झिमा पटिपदा (मध्यमा प्रतिपदा) अपनायी जो, **चक्खुकरणी** है, यानी भासमान सत्य का भेदन कर परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करा देने वाले प्रज्ञाचक्षु प्राप्त करने के लिए है।

ञाणकरणी – यानी प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लेने के लिए है।

उपसमाय – यानी क्लेश-कषायों का उपशमन कर लेने के लिए है, उनका क्षय कर लेने के लिए है।

अभिञ्ञाय – यानी समस्त आस्रवों के क्षय की स्थिति को स्वयं अनुभव करा देने वाले अभिज्ञान को प्राप्त करने के लिए है।

सम्बोधाय – यानी स्वयं बोधि प्राप्त करने के लिए है।

निब्बानाय – यानी सोपाधिशेष निर्वाण का दर्शन करते हुए, निरुपाधिशेष निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए है, जिससे भवचक्र पूरी तरह नष्ट हो जाता है। पुनर्भव होता ही नहीं।

कैसी है यह मध्यमा प्रतिपदा? कैसा है यह मध्यम मार्ग?

इसे आर्य-अष्टांगिक मार्ग कहते हैं, याने आठ अंग वाला ऐसा मार्ग जिस पर चलने वाला हर व्यक्ति देर-सबेर आर्य बन ही जाता है; हर बंदी मुक्त हो ही जाता है, हर दुखियारा दुखमुक्त हो ही जाता है।

ये हैं इसके आठ अंग;

सम्यक दर्शन – यानी सभी भ्रम-भ्रांतियों से छुटकारा पा कर भिक्षु शरीर और चित्त के यथार्थ स्वभाव को स्वानुभूतियों के स्तर पर सम्यक रूप से,

साक्षीभाव से देखते हुए, उनके परे इंद्रियातीत, भवातीत, लोकातीत परम-सत्य का साक्षात्कार कर सके।

इसके लिए आवश्यक है –

सम्यक संकल्प – यानी संकल्प-विकल्प, चिंतन-मनन शुद्ध हो। मानस राग-द्वेष और हिंसा के भावों से दूर हटे, इसके लिए साधक दृढ़ निश्चय हो।

सम्यक वाणी – झूठ, कटुता, परनिंदा और निरर्थकता से साधक की वाणी विरत रहे, सम्यक बने।

सम्यक कर्मांत – हत्या, चोरी, मैथुन जैसे शारीरिक दुष्कर्मों से साधक विरत रहे।

सम्यक आजीविका – लाभ सत्कार पाने के लिए भिक्षु गृहस्थों की सेवा चापलूसी अथवा उन्हें चमत्कार दिखाने आदि के गलत कामों से विरत रहे। गृहस्थ अन्य प्राणियों को हानि पहुँचाने वाली आजीविकाओं से विरत रहे।

सम्यक व्यायाम – दुर्गुणों को निकालने और न आने देने तथा सद्गुणों को लाने और बढ़ाने में साधक सम्यक प्रयत्नशील रहे।

सम्यक स्मृति – अपने नाम और रूप (चित्त और शरीर) के प्रपंच के प्रति साधक सतत सजग रहे।

सम्यक समाधि – यों सजग रहते हुए साधक सम्यक रूप से समाधिस्थ हो।

यह मध्यमा प्रतिपदा सम्यक है क्योंकि संयमित है, संतुलित है। अतियों की ओर नहीं झुकती, न काम-भोग के सुखों में लोट-पलोट लगाने की ओर झुकती है और न देह-दंडन के निरर्थक दुःखों से पीड़ित होने की ओर।

परम कल्याणकारिणी है यह, दोनों चरम अंतों को त्यागने वाली, मध्यमा प्रतिपदा।

———————

३. मूल उपदेश

अतियों की अंतिम पराकाष्ठा के दोनों छोर छोड़, मध्यमा प्रतिपदा का महत्त्व बता कर भगवान बुद्ध ने धर्मचक्र का मूल उपदेश प्रकाशित किया।

१. दुख है।

२. दुख-समुदय तृष्णा से होता है।

३. दुख का निवारण है।

४. दुख का निवारण मध्यमा प्रतिपदा से होता है।

जीवन जगत की ठोस सच्चाइयां। न कोई कल्पना-प्रसूत दार्शनिक मान्यता को स्वीकारने का आग्रह, न कोई निष्प्राण कर्मकांड का बंधन, न किसी अंधभक्ति का भावावेशीय घटाटोप, न किसी जातीयता व सांप्रदायिकता की उलझन में जकड़े जाने का जंजाल। सीधी, सच्ची, वैज्ञानिक बात; सार्वजनीन, सर्वहितैषी बात। काम की, सार की बात। रोगी के लिए इससे बढ़ कर काम की बात और क्या होगी कि वह जाने कि यह रोग है और यह रोग का मूल कारण है। यह रोग का निवारण है और यह रोग के निवारण का सही उपाय है। इसी प्रकार भवरोगी के लिए भी यही चार काम की बातें हैं, कल्याण की बातें हैं।

किसी भी भवरोगी दुखियारे के लिए इन चार सच्चाइयों को हृदय से स्वीकार कर लेना अच्छा है। पर केवल स्वीकार कर के ही रह जाय तो फिर किसी मान्यता-मात्र में अटक कर रह जाएगा। अतः चिंतन-प्रज्ञा का अगला कदम उठाये। चिंतन करे कि इस अवस्था में मुझे क्या करना चाहिए? मेरे लिए क्या कृत्य है? क्या करणीय है? **'योनिसोमनसिकार'** यानी सही ढंग से चिंतन करेगा तो ये चार बातें प्रकाश में आएंगी;

१. जो दुख सत्य है, इसका परिज्ञान हो यानी इसके बारे में संपूर्ण जानकारी हो। अंतिम परिधि-पर्यंत इसकी पर्यवेषणा हो यानी इसका पूरा-पूरा अनुसंधान हो। इससे संबंध रखने वाली कोई भी स्थिति अंधेरे में न रह जाय।

२. जो समुदय सत्य है, यानी तृष्णा है, उसको जड़ से उखाड़ लेना चाहिए।

३. जो दुख-निवारण यानी दुख-निरोध सत्य की निर्वाणिक अवस्था है, उसका स्वयं साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

४. दुख-निवारण के लिए यह जो आठ अंग वाला मार्ग सत्य है, जो मध्यमा प्रतिपदा है, उस पर अंतिम लक्ष्य तक चल लेना चाहिए।

चिंतन-मनन के स्तर पर यह चारों कृत्य, करणीय समझ में आ जायँ तो भी वह लाभ नहीं हुआ, जो किसी भवरोगी को इन चारों सच्चाइयों से प्राप्त हो सकता

है। वह लाभ तब होता है, जब कोई व्यक्ति इन चारों कृत्य; करणीय को कृत बना ले, याने सचमुच कर ले, भावनामयी प्रज्ञा द्वारा भावित कर ले। उस अवस्था पर पहुँच जाय, जहां निश्चयपूर्वक कह सके;

१. **दुख-सत्य** का परिज्ञान कर लिया।

२. **समुदयसत्य** याने तृष्णा का पूर्ण उच्छेद कर लिया।

३. **निरोधसत्य** याने निर्वाणिक अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर लिया।

४. **मार्गसत्य** याने अष्टांगिक मार्ग पर पूरी तरह चल लिया।

ये चारों कर लिए तो ही कृत-कृत्य हुआ। प्राप्त-प्राप्तव्य हुआ। भारमुक्त, बंधनमुक्त, दुखमुक्त हुआ। तभी ये चारों सत्य आर्यसत्य हुए। इन्हें धारण करने वाला भवरोगी, अनार्य; भवमुक्त, आर्य हुआ।

इन आर्यसत्यों को तिहरे रूप में याने बारह प्रकार से संपूर्ण आत्मसात करे तो ही कोई व्यक्ति सही माने में दुख-मुक्त होता है, अरहंत होता है, अन्यथा मुक्ति के नाम पर धोखा ही चलता है।

अनेक लोग तब भी रहे और आज भी हैं ही, जो बुद्धि के स्तर पर खूब स्वीकार करते हैं कि दुःख का कारण राग-द्वेषमयी तृष्णा ही है और यह भी कि तृष्णा को दूर कर के दुःख से मुक्ति पायी जा सकती है। पर तृष्णा को वस्तुतः दूर करते नहीं, तो दुःख से मुक्त होते नहीं। बहुत से तो यही नहीं समझते कि तृष्णा को कैसे दूर करें? परंतु अनेक ऐसे भी हैं, जो बुद्धि के स्तर पर खूब अच्छी तरह समझते हैं कि शील, समाधि, प्रज्ञा के अष्टांगिक मार्ग पर चल कर तृष्णा की जड़ें उखाड़ी जा सकती हैं, परंतु मार्ग पर चलते नहीं। चारों आर्यसत्यों को स्वयं अनुभव करते नहीं और अनुभव करने का कोई प्रयत्न भी करते नहीं, तो अभागे ही हैं। दुःख-मुक्त नहीं हो पाते।

भगवान ने अपने पांचों शिष्यों को दुख-विमुक्ति का यह उपदेश देते हुए कहा कि जब तक इन चार सत्यों को ठीक प्रकार से, द्वादशाकार स्वयं अनुभूत न कर लिया याने, 'यथाभूत ज्ञान-दर्शन सुविशुद्ध' न कर लिया, तब तक मैंने यह घोषणा नहीं की कि मैंने सर्वोच्च सम्यक संबोधि का साक्षात्कार कर लिया है। मुझमें सम्यक ज्ञान और सम्यक दर्शन सुपुष्ट हो गया है। मेरा चित्त सदा के लिए विकार-विमुक्त हो गया है। यह मेरा अंतिम जन्म है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। जब ऐसा कर लिया तभी यह दावा किया। यह करने का ही फल है। बिना किए कुछ होता नहीं। पर कैसे करें? इसका उत्तर इन चार शब्दों में समाया हुआ है;

यथाभूतं ञाणदस्सनं सुविसुद्धं अहोसि।

यही इस उपदेश का सार है। यथाभूत ज्ञान-दर्शन विशुद्ध हुआ। अथवा यूं कहें विपश्यना विशुद्ध हुई। शुद्ध विपश्यना द्वारा यथाभूत का दर्शन करते-करते ही

दर्शन सम्यक दर्शन हुआ। ज्ञान सम्यक ज्ञान हुआ। विमुक्ति सम्यक विमुक्ति हुई। चारों आर्यसत्यों का यथाभूत दर्शन शुद्ध रूप में न करें तो विमुक्त नहीं हो सकते।

भगवान ने जब इसका व्याकरण-व्याख्यान किया यानी स्पष्टीकरण किया तो पांचों में से एक कौंडण्य के विरज-विमल धर्मचक्षु जागे। उसे सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान प्राप्त हुआ। यानी विपश्यना द्वारा यह बोध हुआ कि जो कुछ समुदय-स्वभाव का है, वह निरोध-स्वभाव का है। याने नाम-रूप के सारे क्षेत्र का समुदय-व्यय देखते-देखते उसने उसके निरोध अवस्था का भी साक्षात्कार कर लिया, वह अवस्था जो नाम और रूप (चित्त और शरीर) के परे की अवस्था है, उसका भी साक्षात्कार कर लिया। पहली बार निर्वाणिक अवस्था की अनुभूति हुई तो स्रोतापन्न हो गया, अनार्य से आर्य हो गया।

आओ, हम भी इस महत्त्वपूर्ण उपदेश के सारस्वरूप इन शब्दों को जरा विस्तार से समझें।

यथाभूत ज्ञान-दर्शन, यानी यथाभूत का दर्शन और ज्ञान हो। जिस क्षण जो घटना अपने आप, कुदरतन घटी, उसे ही उस क्षण साक्षीभाव से देखा और समझा, तो ही सम्यक दर्शन हुआ, तो ही सम्यक ज्ञान हुआ।

यथाकृत नहीं, यानी कुछ गढ़कर, निर्माण करके; किसी कृत्रिम, बनावटी आलंबन का दर्शन-ज्ञान नहीं करना है।

यथाकल्पित नहीं, यथाभूत यथार्थ को कहते हैं। अपनी परंपरागत दार्शनिक मान्यता के आधार पर किसी बात की कल्पना करें और फिर उसका दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें, ऐसा नहीं।

यथासंकल्पित नहीं, यानी संकल्प-विकल्प द्वारा, चिंतन-मनन द्वारा किसी मान्यता को आधार मानकर, उसका दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं।

यथावांछित नहीं, यानी अपनी कामना के लक्ष्य का ध्यान कर के उसके दर्शन-ज्ञान का प्रयत्न नहीं।

यथाआरोपित नहीं, यानी किसी मिथ्या बात का आरोपण कर के उसके दर्शन-ज्ञान का प्रयत्न नहीं।

जो यथार्थ प्रकट हुआ, केवल उसी का दर्शन ज्ञान।

यह यथाभूत दर्शन ज्ञान किसमें हो? विपश्यना कहां करे? उसका विषय क्या हो? इस संबंध में भगवान ने कहा, **इमेसु चतूसु अरियसच्चेसु** यानी, इन चार आर्यसत्यों में यथाभूत दर्शन-ज्ञान हो।

दुख में दुख के कारण, तृष्णा में दुख के निरोध, और निरोध के उपाय, अष्टांगिक मार्ग में।

ये चारों शरीर की सीमा के भीतर हैं। शरीर की सीमा के भीतर ही एक रूप-स्कंध और चार चित्त-स्कंध हैं। इन पांचों स्कंधों के क्षेत्र में ही दुःख समाया हुआ है। दुःख का यथाभूत ज्ञान-दर्शन यहीं करना होगा। इन पांच स्कंधों के भीतर ही समुदय याने तृष्णा समायी हुई है। यहीं राग और द्वेष जागते हैं। प्रिय-मनचाही को प्राप्त करने और रोके रखने वाली रागमयी तृष्णा तथा अप्रिय-अनचाही को दूर धकेलने वाली द्वेषमयी तृष्णा। शरीर की सीमा के भीतर इनका यथाभूत ज्ञान-दर्शन करके, इन्हें दुर्बल बना कर समाप्त किया जा सकता है, और यों दुख का समापन किया जा सकता है। दुख-निरोध की निर्वाणिक अवस्था का भी इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही साक्षात्कार किया जा सकता है, बाहर नहीं। दुख-निवारण के अष्टांगिक मार्ग का दर्शन भी नाम-रूप पर ही किया जा सकता है, बाहर नहीं। अष्टांगिक मार्ग काया, वाणी, चित्त के सभी कर्मों को सुधारने का मार्ग है। सभी कर्मों की चेतना भीतर जागती है, उनका उद्गम शरीर की सीमा के भीतर ही होता है, बाहर नहीं। अष्टांगिक मार्ग शील, समाधि, प्रज्ञा का मार्ग है और इन तीनों का उद्गम भीतर है, बाहर नहीं।

अतः यथाभूत ज्ञान-दर्शन करने वाले व्यक्ति को काया और चित्त पर प्रकट होने वाली क्षण-क्षण की सच्चाइयों का ज्ञानपूर्वक दर्शन करना होता है। दर्शन याने उस सच्चाई के प्रति तटस्थभाव रखे; भोक्ताभाव नहीं, कर्त्ताभाव भी नहीं। ज्ञान याने उसके सही स्वभाव का ज्ञान। अनित्य को अनित्य स्वभाव वाला, दुख को दुख स्वभाव वाला, अनात्म (अहं-ममविहीन) को अनात्म स्वभाव वाला ही समझे। यह सब कुछ अनुभूतिजन्य ज्ञान द्वारा समझे और जब नाम-रूप के प्रपंच का ज्ञान-दर्शन करता हुआ, उसका भी अतिक्रमण कर ले तो इंद्रियातीत, लोकातीत, नित्य, शाश्वत निर्वाण का साक्षात्कार कर ले। दुख-निरोध का भी यथाभूत ज्ञान-दर्शन कर ले। यह भी साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही करना होता है। अतः चारों आर्यसत्यों का ज्ञान-दर्शन भीतर ही करना होता है।

साधक आरंभ कैसे करे? पहले प्रथम आर्यसत्य याने दुख के परिज्ञान के लिए उसी का दर्शन करना शुरू करे। नाम-रूप का प्रपंच जिस क्षण जैसा प्रकट हुआ उसका वैसे ही दर्शन शुरू कर दे। अभी परिज्ञान पूरा नहीं हुआ, पर अष्टांगिक मार्ग का पहला कदम तो उठ ही गया। सम्यक दर्शन का काम आरंभ हो गया। ऐसी अवस्था में साधक देखेगा कि संकल्प को सम्यक करना आवश्यक है। जब ऐसा करना शुरू कर देता है तब देखता

है कि सम्यक संकल्प तभी संभव है जब शील शुद्ध हो यानी वाणी सम्यक हो, शारीरिक कर्म सम्यक हो, आजीविका सम्यक हो। अतः इन्हें शुद्ध रखता है और देखता है कि यह भी तभी संभव है जब व्यायाम सम्यक हो, जागरूकता सम्यक हो और जागरूकता वाली समाधि सम्यक हो। इन तीनों के लिए भी प्रयत्न शुरू करता है। यों सम्यक दर्शन करता हुआ पूरे अष्टांगिक मार्ग को भावित करने लगता है, पुष्ट करने लगता है। मध्यमा प्रतिपदा के एक-एक अंग को जीवन में उतारता है और यथाभूत देखता है, यों चौथे आर्यसत्य को भावित करने का काम शुरू हो जाता है।

मार्ग के अष्टांगों का ध्यान करता हुआ दुख-दर्शन करता है। नाम-रूप का दर्शन करता है तो अनुभूतियों के स्तर पर यह भी स्पष्ट होने लगता है कि जब-जब मानस में राग या द्वेष जागता है, तब-तब दुख ही पैदा होता है। यों दुःख समुदय रूपी द्वितीय आर्यसत्य का बोध होने लगता है। उसका यथाभूत दर्शन करता है तो यह भी स्पष्ट होने लगता है कि अज्ञान के कारण ही राग-द्वेष जागता है। जो अनित्य है, दुख है, अनात्म है, उसे यथाभूत देखता हुआ उस पर नित्य, सुख और आत्म का मिथ्या आरोपण नहीं होने देता तो मोह-मूढ़ता से छुटकारा पाता है। परिणामतः तृष्णा अपने आप क्षीण होती जाती है। तटस्थभाव से सारे प्रपंच को देखता जाता है तो राग-द्वेष के पूर्व-संचित संस्कारों का निरोध होने पर पहली बार दुख-निरोध यानी निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। साधक स्रोतापन्न अवस्था तक पहुँच जाता है। इसी अवस्था को और आगे बढ़ाता है तो सकदागामी, अनागामी अवस्थाओं में से गुजरता हुआ अरहंत अवस्था तक पहुँच जाता है। यों दूसरे आर्यसत्य 'तृष्णा' का समूल उच्छेद कर लेता है। प्रथम आर्यसत्य पूर्ण परिज्ञात हो जाता है। चतुर्थ आर्यसत्य अष्टांगिक मार्ग भावित हो जाता है। तृतीय आर्यसत्य 'निरोध' का साक्षात्कार हो जाता है। यथाभूत ज्ञान-दर्शन विशुद्ध हुआ, क्योंकि उसमें कहीं कोई कृत्रिम, कल्पित, संकल्पित अथवा मनोवांछित मिथ्या बातों का आरोपण नहीं होने दिया। जिस-जिस समय, जो-जो यथार्थतः हुआ, केवल उसी का ज्ञानपूर्वक दर्शन किया। ज्ञान यानी बुद्धि वाला ज्ञान नहीं, अनुभूति वाला ज्ञान। तो ही यथाभूत ज्ञान-दर्शन संपन्न हुआ। तो ही विपश्यना सफल हुई। साधक कृतकृत्य हुआ।

आओ, हम भी इन चारों सत्यों का विशुद्ध, वास्तविक ज्ञान-दर्शन करें। कहीं इन्हें किसी सांप्रदायिक मान्यता का दर्शन-मात्र बनाकर, किसी संप्रदाय की उलझन में न उलझ जायँ। जो बात हमारी मुक्ति के लिए

समझायी गयी, उसका उपयोग अपनी मुक्ति के लिए ही करें; भक्ति-भावावेश के लिए नहीं, बुद्धि-किलोल के लिए नहीं, सांप्रदायिक मान्यताओं में बँधने के लिए नहीं।

सत्य-धर्म-धारण करने में ही हमारा सही कल्याण समाया हुआ है।

———————

४. लोकचक्र : धर्मचक्र

पच्चीस-छब्बीस सदियों पूर्व आषाढ़ पूर्णिमा के दिन भगवान गौतम बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। लोकचक्र में पिसी जाती हुई जनता धर्मचक्र से वंचित हो गयी थी। धर्म के नाम पर जो कुछ प्रचलित था वह अधिकांशतः लोकचक्र था। विवेकहीन रूढ़ियों और परंपराओं की लकीरों पर अंधे फकीरों की तरह चलने वाले लोग धर्म का सत्य-स्वरूप भूल बैठे थे। यथार्थ ज्ञान-दर्शन से वंचित हो चुके थे। इसीलिए नाना प्रकार के दुखों में उलझे हुए थे।

दुनिया में जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो वह यथार्थ ज्ञान-दर्शन ही करता है। परमार्थ-सत्य का स्वयं दर्शन करना ही सम्यक संबोधि है। समस्त मिथ्या दृष्टियों से, भ्रम-भ्रांतियों से, माया-मरीचिकाओं से, धोखे-विपर्यासों से बाहर निकलकर आर्यसत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर लेना ही विमुक्ति है। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार स्वयं आर्यसत्यों के दर्शन करके औरों को भी उनके दर्शन कर सकने के लिए मार्ग निर्देशन करता है, तो इसी को धर्मचक्र-प्रवर्तन करना कहते हैं।

ये आर्यसत्य क्या हैं? आर्यसत्य प्रकृति की वे सच्चाइयां हैं, जिन्हें हम अंतर्मुखी हो कर स्वानुभूतियों के बल पर स्वयं देख समझ लेते हैं और आर्य बन जाते हैं, याने पवित्र बन जाते हैं, निर्मल हृदय बन जाते हैं। आओ, देखें ये कौन-सी सच्चाइयां हैं, जो हमें मिथ्या भ्रांतियों से दूर करती हैं और आर्य बनने में सहायक होती हैं। ये हैं जीवन और जगत की ठोस सच्चाइयां, यथार्थ सच्चाइयां; थोथी कपोल-कल्पनाओं से परे, निकम्मी निस्सार अटकल-पच्चियों से दूर। ये सच्चाइयां चार प्रकार की होती हैं।

हम भलीभांति जान लेते हैं कि– (१) यह दुख है, (२) यह दुख का मूलभूत कारण है, (३) यह दुख का निवारण है और (४) यह दुख-निवारण का तरीका है।

अन्य शब्दों में कहें तो हम भलीभांति जान लेते हैं कि यह हमारा रोग है, यह रोग का निदान है, यह रोग का निवारण है और यह है निवारण की दवा। यह मैल है, यह मैल का चिपकना है; यह मैल का छूटना है और यह है मैल छुड़ाने का साबुन। यह आग है, यह आग का जलावन है; यह आग का बुझना है

और यह है उसका उपाय। यह विष-वृक्ष है, यह वृक्ष-मूल है; यह मूलोच्छेदन है और यह है कुल्हाड़ा। यह दुर्भिक्ष है, यह दुर्वृष्टि है; यह सुभिक्ष है और यह है सुवृष्टि। यह उरला तीर है, यह बीच की नदिया है; यह परला तीर है और यह है पार होने की नौका। यह कुफल है, यह कुबीज है; यह सुफल है और यह है सुबीज। यह दुर्गति है, यह दुर्मार्ग है, यह लोकचक्र है, यह लोकचक्र की गति है; यह उस गति का निरोध है और यह है गति निरोध कर देने वाला धर्मचक्र।

वस्तुतः लोकचक्र ही दुख है, रोग है, बंधन है, मैल है, आग है, भय है, दुष्फल है, दुर्गति है; और धर्मचक्र ही सुख है, स्वस्थता है, शांति है, मुक्ति है, निर्मलता है, योगक्षेम है, सुफल है, सुगति है। चारों आर्यसत्यों को देख-समझ लेना धर्मचक्र है और न देखना-समझना ही लोकचक्र।

साधारणतया हम दुख के सत्य स्वरूप को नहीं देख-समझ पाते। इसी से उसमें उलझे रहते हैं, लोकचक्र में पिसते रहते हैं। जीवन के मोटे-मोटे दुख तो हम खूब समझ लेते हैं, परंतु सांसारिक सुखों में छिपे हुए सूक्ष्म, परंतु तीव्र दुखों को हम कहां समझ पाते हैं? छोटे-बड़े एऐंद्रिय सुख हमें इस कदर लुब्ध रखते हैं कि इनमें भी कोई दुख समाया हुआ है, यह बात हमारी समझ में ही नहीं आती। यदा-कदा आने वाले इन भौतिक सुखों की वजह से हमारे भीतर जो उत्तेजनाएं उमड़ती रहती हैं और हमारा मानसिक संतुलन बिगड़ता रहता है, उस दुख को हम देख ही नहीं पाते। प्रिय या अप्रिय सभी स्थितियों में हमारे भीतर ही भीतर जो गहरी अतृप्ति, असंतुष्टि समायी रहती है, उसके दुख को हम समझ ही नहीं पाते। जो कुछ प्राप्त है उसकी सुरक्षा के लिए और जो कुछ अप्राप्त है उसकी प्राप्ति के लिए, हमारे अंतर्मन में जो निरंतर बेचैनियां बनी रहती हैं, उन्हें हम देख ही नहीं पाते। इन्हें देख-समझ लेना ही अपने सच्चे रोग को पहचान लेना है। यही पहला मंगलकारी सत्य है।

दूसरा मंगलकारी सत्य उस दुख के असली कारण को देख-पहचान लेना है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की विभिन्न अवांछित घटनाएं, परिस्थितियां हमें दुखी बनाती रहती हैं। यह सच है, परंतु यह ऊपरी-ऊपरी सच है। इससे गहरा सच यह है कि भीतर ही भीतर अनजाने हमने अपने मन को एक ऐसे स्वभाव-शिकंजे में जकड़ लिया है जिससे वह अप्राप्य को प्राप्य करने के लिए सदा लालायित रहता है, उत्तप्त रहता है। जो कुछ है, उससे इसे संतुष्टि नहीं, तृप्ति नहीं। जो नहीं है, उसके लिए छटपटाहट है। अतृप्ति और असंतुष्टि की यह छटपटाहट ही दुख है। यह जान लेने पर यह भी स्पष्ट समझ में आ जाता है कि सदा सतृष्ण रहने वाला हमारा यह आंतरिक स्वभाव ही

इसका मूल कारण है। इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी तृष्णा बनी रहती है। एक इच्छा पूरी हुई कि दूसरी के प्रति तृष्णा जागी। जब तक तृष्णा बनी रहती है तथा उस तृष्णा के प्रति गहरी आसक्ति बनी रहती है, तब तक दुख बना ही रहता है।

दुखों के मूलभूत सही कारण को नहीं जानने की वजह से ही दुख-विमुक्ति के सारे उपक्रम व्यर्थ साबित होते हैं। एऐंद्रिय सुखों के अभाव को ही दुख का कारण मान कर उनके पीछे पागलों की तरह दौड़ लगाने वाला व्यक्ति अधिक दुखों में ही उलझता है। किसी सर्वशक्तिमान अदृश्य प्राणी को दुखों का कारण मानकर उसे खुश करने के चक्कर में पड़ने वाला व्यक्ति दुखों में ही अधिक उलझता है। अतः दुख के सही कारण को जान लेना ही वास्तविक मंगलमयी सच्चाई है।

यह दुख है, यह दुख का कारण है। इन दोनों सच्चाइयों को जान लेना नितांत आवश्यक है। परंतु इतना जान कर यदि हम हताश हो बैठें कि यह तो दुनिया का स्वभाव है, यह दुखचक्र तो सदा चलता ही रहेगा, इसके बाहर कोई निकल नहीं सकता, तो इस निराशा के कारण सचमुच दुखचक्र में पड़े ही रह जाएंगे। धर्मचक्र दुख और दुख के सही कारण को जान कर उसके निवारण के प्रति आस्था पैदा करता है। जिसका कोई कारण है, उसका निवारण भी है ही। कारण के दूर होते ही परिणाम अपने आप दूर हो जाएगा। आशाओं से परिपूर्ण यह तीसरी सच्चाई है।

कारण के निवारण से दुख दूर होगा, यह सच्चाई जान लेने के बाद उस निवारण का सही उपाय पकड़ में आ जाय तो चौथी मंगलकारी सच्चाई पकड़ में आ जाय। तीसरी सच्चाई ने जो आशा उत्पन्न की थी, उसे क्रियान्वित करने की विधि पकड़ में आ जाय, क्या है यह विधि? यह विधि है शील, समाधि और प्रज्ञा, यानी काया और वाणी के दुराचरण से बचना, चित्त को वश में रखना और चित्त पर छाए हुए समस्त दूषित विकारों को दूर कर उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणों से भरना। दुख-निरोध का यही सही उपाय है। हमारे समस्त रोगों की यही रामबाण औषधि है। यही वह मार्ग है जिस पर चल कर हम अपने भीतर समाये हुए समस्त दुखों की जननी-स्वरूपा इस तृष्णाजन्य आसक्ति को समूल नष्ट करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। यही मंगलकारी चौथी सच्चाई है।

इन चारों मंगलकारी सच्चाइयों को जान लेना, चिंतन-मनन द्वारा भलीभांति समझ लेना अच्छा है, क्योंकि जानना-समझना ही तो पहला कदम है। परंतु यदि हम बौद्धिक स्तर पर जानने-समझने को ही सब कुछ मान बैठें तो एक और पागलपन के शिकार हो जायँ। यह तो कोरा बुद्धिविलास ही होगा जो हमारे

किसी लाभ का नहीं, जान समझ कर उसे क्रियान्वित कर लेना ही हमारे मंगल का विधायक है। रोग जान लिया, उसे दूर करने की दवा भी जान ली, परंतु उस दवा का सेवन नहीं किया तो यह सारा जानना निरर्थक हुआ।

इन चारों आर्यसत्यों का सही साक्षात्कार वही करता है जो बुद्धिविलास के चक्कर से बाहर निकलता है, अन्यथा तो लोकचक्र में ही उलझा रहता है। धर्मचक्र से लाभान्वित नहीं हो पाता। दुःख को जान कर उससे मुक्त हो जाना ही धर्मचक्र है। दुख के सही कारण को जान कर उसे जड़ से उखाड़ फेंकना ही धर्मचक्र है। दुख-निरोध की सच्चाई को जान कर उस स्थिति को यथार्थतः प्राप्त कर लेना ही धर्मचक्र है। दुख-निरोध के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा की सरल विधि को जान कर उसका पूरी तरह अभ्यास कर लेना ही धर्मचक्र है। यही मंगल-मूल है। यह न हो तो हम लोकचक्र ही लोकचक्र में उलझे रह जाएंगे। दुखचक्र ही दुखचक्र में पिसते रह जाएंगे। हमारा सौभाग्य है कि हमें यह कल्याणकारी विधि उपलब्ध हुई है। हम इसके अभ्यास के द्वारा लोकचक्र के दुखों से बाहर निकलें और धर्मचक्र पर स्थापित हो कर अपना कल्याण साधें, अपना मंगल साधें!

———————

५. चरथ भिक्खवे चारिकं

वाराणसी राज्य के ऋषिपत्तन मृगदाय नामक स्थान में, जिसे आज सारनाथ कहते हैं, भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध ने पहले पहल धर्मचक्र-प्रवर्तन कर पांच भिक्षुओं को विमुक्ति-रस का पान करवाया। भगवान के वे पांचों प्रथम शिष्य कृतकृत्य हुए, अरहंत हुए, जीवन्मुक्त हुए।

तत्पश्चात वाराणसी का यश नामक एक धनवान श्रेष्ठिपुत्र भगवान के संपर्क में आया। वह साहूकार का लड़का अनेक सुख-साधनों से संपन्न होते हुए भी मानसिक उद्विग्नता का शिकार था। वैभव-विलास के जीवन से ऊब चुका था। धन-संपदा में उसे कोई शांति नहीं दिखती थी। भगवान के संपर्क में आने पर, उसने धर्म-साधना का अभ्यास किया तो वह भी वास्तविक सुख-शांति का अधिकारी बन गया। थोड़े समय के ही अभ्यास द्वारा वह भी अरहंत हुआ, जीवन्मुक्त हुआ। उसके चित्त की शांति देख कर उसके चार अन्य धनी घनिष्ठ मित्र भी शांति लाभ के लिए भगवान के पास आये और वे भी कृतार्थ हुए। इस घटना ने श्रेष्ठि-पुत्र यश की सारी मित्र-मंडली में एक सनसनी पैदा कर दी। अपार भौतिक संपदा के उपभोग से ऊबे हुए अशांत, बेचैन श्रेष्ठि-कुमार भगवान की शरण आने लगे। ऐसे पचास युवकों ने धर्म-साधना का अभ्यास कर अरहत्व प्राप्त किया और अपना जीवन सफल बनाया।

इन साठ अरहंत भिक्षुओं की मंडली के साथ भगवान तीन महीने वर्षा के दौरान उसी क्षेत्र में विहार करते रहे। साठों अरहंत भिक्षु धर्म-अभ्यास में पूर्णतया परिपक्व थे। वर्षावास पूरा होते ही भगवान ने उन्हें आदेश दिया – "अब एकांत में रहने की आवश्यकता नहीं। अब तो समाज में रहो और उसकी सेवा करो। इसलिए विचरण करो।

किसी स्थान पर एक साथ दो भिक्षु मत जाओ, जिससे कि अधिक से अधिक स्थानों में सद्धर्म का प्रकाश फैले, अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो। चलते रहो। चलते रहो। धर्म-चारिका करते रहो। अनेक लोगों के हित-सुख के लिए, अनेक लोगों के कल्याण-मंगल के लिए। लोगों पर अनुकंपा करते हुए सत्य-धर्म का प्रकाशन करते हुए चलते ही रहो। चलते ही रहो।"

अपने भीतर धर्म पक जाने के बाद यह स्वाभाविक ही था कि उन भिक्षुओं के मन में अपरिमित करुणा जागी, मैत्री जागी, लोक-कल्याण की भावना जागी और अब भगवान से प्रेरणा पाकर वे लोगों के हित के लिए, सुख के लिए, लाभ के लिए, मंगल के लिए, देश भर में धर्म-चारिका करने निकल पड़े। लोग सर्वत्र दुखी ही दुखी हैं। शारीरिक पीड़ाओं से उत्पीड़ित हैं। मानसिक उत्तेजनाओं से उत्तप्त हैं। उन्हें धर्म का लाभ मिले। वे दुख से मुक्त हों। वे सच्ची सुख-शांति का रसास्वादन कर सकें। ऐसा धर्म जिसका कि उन्होंने स्वयं अभ्यास किया। ऐसा अभ्यास जिससे कि उन्होंने स्वयं अपने दुखों का नितांत उन्मूलन कर लिया। यह अभ्यास सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से हितकर है। अतः सभी मनुष्यों को सहज सुलभ होना ही चाहिए। सभी लोग दुखों से संत्रस्त हैं। ऊपर से भिन्न-भिन्न दिखने वाले, सभी दुखों का मूल कारण तो एक ही है। अतृप्ति के परिवेश में अपनी ही तृष्णाओं के प्रति गहरा खिंचाव, गहरा लगाव, गहरी आसक्ति ही तो दुख है, दुख की जड़ है। कोई ऐसी विधि हाथ लगे जिसके अभ्यास से आसक्तियां टूटें तो जड़ के उन्मूलन होते ही दुखों का अपने आप खात्मा हो जाय।

इन साठ दुखी लोगों ने अपने कल्याणमित्र से, अपने धर्म-शास्ता से, उन महान कारुणिक भगवान बुद्ध से यही धर्म-साधन तो सीखा था, जिसके अभ्यास से उनकी आसक्तियां टूटीं, उन्हें स्वयं अपने-अपने दुखों से छुटकारा मिला, वे स्वयं अनासक्त हो जीवन्मुक्त हुए। अब वही सहज सरल विधि दुख-संतप्त लोगों तक पहुँचाने के लिए ये साठ भिक्षु निकल पड़े। सच ही तो है, उस महान कारुणिक द्वारा बताये हुए पथ का अवलंबन लेकर जो व्यक्ति स्वयं दुख-विमुक्त होता है, वह इस लोक मंगलकारिणी करुण-भावना से कैसे दूर रह सकता है भला? यह असंभव है कि कोई अपने आप को मुक्त कर ले और फिर उस विमुक्ति-सुख में ही अपना शेष जीवन किसी एकांत निर्जन स्थान में बिताये। स्वयं भगवान ने भी तो ऐसा नहीं किया। सम्यक संबोधि प्राप्त कर वे केवल सात सप्ताह विमुक्ति-सुख में अकेले बैठे रह सके। परंतु उसके बाद तो लोक-हित के लिए ऐसी धर्म-चारिका आरंभ की कि जीवन के शेष पैंतालीस वर्षों तक सतत लोक-हित में ही निमग्न रहे। जीवन की अंतिम घड़ियों तक भी, बिना विश्राम किये हुए, दुखी संतप्त लोगों के दुख दूर करने के लिए धर्मगंगा का शीतल जल बांटते रहे। ऐसे करुणागार के मार्ग का अवलंबन करने वाला प्रत्येक भिक्षु किसी निर्जन वन में रह कर अपना सारा जीवन कैसे बिता सकता है? उसके लिए समाज में ही रहकर, समाज की अथक सेवा में ही आजीवन लीन

रहना समीचीन है और यही आदर्श उन प्रारंभिक साठ भिक्षुओं ने अपनाया, जो कि भावी धर्मदूतों के लिए भी प्रकाश-स्तंभ बना।

इन साठ भिक्षुओं को अलग-अलग स्थानों पर धर्मचारिका पर भेज कर स्वयं भगवान भी इसी उद्देश्य से धर्मचारिका पर निकल पड़े। सभी ने मंगलधर्म को प्रकाशित किया। कैसे प्रकाशित किया? केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, बल्कि उन शब्दों के अर्थ और भाव सही प्रकार से समझाते हुए। शब्दों के अर्थ और भाव समझाने का एकमात्र तरीका यही होता है कि वे अर्थ और भाव स्वयं समझाने वाले के जीवन में उतरें। यही उन शब्दों की सही अभिव्यक्ति है, सही अभिव्यंजना है।

ऐसा है यह मंगलधर्म, जिसे आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी कहा गया। ऐसा है यह मंगलधर्म जिसमें केवलमात्र विशुद्धि ही विशुद्धि है, जो कि परम परिशुद्धि की परिपूर्णता है, जिसमें कि अशुद्धि के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है, जो कि कल्याण-मंगल का साकार स्वरूप है और सत्य का सार तत्त्व है। जिसमें कहीं कोई घास-फूस नहीं, कोई छिलका नहीं, किंचितमात्र भी मिथ्या कल्पना नहीं, मिथ्या आश्रय नहीं। विरज, विमल, विशुद्ध ही विशुद्ध। जिसमें अंध भावावेश के लिए अथवा कोरे सैद्धांतिक तर्कों और बुद्धि-विलास के लिए कोई स्थान नहीं। पूर्णतया व्यावहारिक ही व्यावहारिक और व्यावहारिक भी ऐसा कि मानवमात्र के लिए समान रूप से ग्रहणीय, समान रूप से उपादेय। इसके अभ्यास के लिए किसी वर्ग या संप्रदाय में दीक्षित व अनुबद्ध होने तक की भी आवश्यकता नहीं। गौ का दूध जो पीये उसी के लिए पुष्टिकारक। संपूर्णतया संप्रदाय-निरपेक्ष धर्म। दुखी को दुख-विमुक्त बनाने वाला, रोगी को नीरोगा बनाने वाला, अशांत को शांत बनाने वाला, मैले को निर्मल बनाने वाला, पतित को पावन बनाने वाला, निर्बल को बलवान बनाने वाला, भयभीत को निर्भय बनाने वाला, निर्दय को दयालु बनाने वाला, दुर्जन को सज्जन बनाने वाला। थोड़े में कहें तो प्रत्येक मानव देहधारी को सच्चा मानव बनाने वाला।

यही है वह आठ अंगों वाला धर्म-मार्ग, जिस पर चल कर बुद्ध सहित ये साठ व्यक्ति नितांत दुख-विमुक्त हुए, परम परिशुद्ध हुए। यह आठ अंगों वाला पथ तीन भागों में विभाजित है– शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील यानी सदाचार, यानी वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना। समाधि यानी चित्त को संयमित करना और प्रज्ञा यानी विपश्यना के अभ्यास द्वारा ऐसी सही दृष्टि प्राप्त करना, जिससे सारी मोह-विमूढ़ता दूर हो जाय और चित्त में

समाये हुए राग और द्वेष के सारे संस्कार जड़ से उखड़ जायँ। इस प्रकार निर्मल हुआ चित्त असीम मैत्री और करुणा से भर उठे, जिससे कि साधक न केवल अपना ही कल्याण साधे, बल्कि औरों के भी कल्याण का कारण बने। आत्म-हित और पर-हित का सर्व-जनहितकारी मंगलमय समन्वय। आत्मोदय और सर्वोदय का कल्याणकारी संगम।

तीन महीने के प्रथम वर्षावास के बाद आज के ही दिन **'चरथ, भिक्खवे, चारिकं'** का यह मंगलघोष इस धरती पर पहले पहल गूंजा था। हमारे लिए भी यह प्रेरणा का कारण बने। सद्धर्म से विशुद्धि प्राप्त कर हमारा चित्त भी मैत्री और करुणा से भरे। यदि इस मार्ग से हमें भी सचमुच लाभ हुआ है तो हम भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सर्वजन के हित-सुख के लिए, मंगल-कल्याण के लिए जुट जायँ। धर्म का उद्देश्य केवल आत्म-हित ही नहीं है, केवल आत्मोदय ही नहीं है। आत्म-हित साध कर पर-हित में लगना, आत्मोदय साध कर सर्वोदय में लगना, यही धर्म की सच्ची प्रेरणा है जो कि हम सब साधकों में जागे। हमारे सत्प्रयत्नों से अधिक से अधिक लोग दुख-विमुक्त होकर शांतिलाभी बनें, यही जीवन-लक्ष्य हो। प्रेरणामयी अश्विनी पूर्णिमा का सब के लिए यही पावन संदेश है।

धर्म-देशना का आधार : संवेदना

संवेदना

संवेदना

[वेदना-संवेदना; दो हजार वर्षों के लंबे अंतराल के बाद विपश्यना साधना जब बर्मा से भारत लौटकर आयी तो इसके प्रशिक्षण के लिए प्रयोग में आने वाले एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्द "वेदना" ने कुछ कठिनाई पैदा की। बुद्धकालीन भारत में वेदना अनुभूति को कहते थे। अनुभूति सुखद भी हो सकती है, दुखद भी, असुखद-अदुखद भी। अतः उन दिनों की भाषा में सुखद अनुभूति को सुखवेदना, दुखद को दुखवेदना और असुखद-अदुखद को असुख-अदुख वेदना कहते थे। परंतु आज के भारत में वेदना शब्द केवल दुखद अनुभूति के अर्थ में ही सिकुड़ गया है। अतः आज सुखद, दुखद और असुखद-अदुखद अनुभूतियों के लिए "वेदना" शब्द लोगों को अटपटा ही नहीं, भ्रामक भी लगा। अतः वेदना शब्द के स्थान पर "संवेदना" शब्द का प्रयोग शुरू किया।

अतः विपश्यना साधना के संदर्भ में सुखद संवेदना, दुखद संवेदना, असुखद-अदुखद संवेदना को प्राचीन भारत की सुखद वेदना, दुखद वेदना और असुखद-अदुखद वेदना के अर्थ में ही समझना चाहिए।]

(१)

अनंत आकाश में समय-समय पर नाना प्रकार की हवाएं उठती हैं, बढ़ती हैं, चली जाती हैं। कभी पूर्वी, कभी पश्चिमी, कभी उत्तरी, कभी दक्षिणी। कभी उष्ण, कभी शीतल, कभी धूल-भरी, कभी धूल-विहीन, कभी दुर्गंधित, कभी सुगंधित, कभी प्रभंजनीय प्रलयंकर, कभी शांत, मंद, मंथर। आकाश उनसे प्रभावित नहीं होता। हवाएं आती हैं, कुछ समय तक बहती हैं, पर देर-सबेर चली जाती हैं।

किसी सराय में, धर्मशाला में, होटल में, मोटल में नाना प्रकार के लोग आते रहते हैं। पूर्व के भी, पश्चिम के भी, उत्तर के भी, दक्षिण के भी। गोरे भी, काले भी, पीले भी, भूरे भी, नाटे भी, लंबे भी, मोटे भी, दुबले भी, बलवान भी, बलहीन भी, खूबसूरत भी, बदसूरत भी। धर्मशाला उनसे प्रभावित नहीं होती। लोग आते हैं, कुछ समय तक टिकते हैं, पर देर-सबेर चले ही जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर में नाना प्रकार की संवेदनाएं आती हैं, कुछ समय तक रुकती हैं, पर देर-सबेर चली ही जाती हैं। अनंत काल तक रहने के लिए नहीं आतीं। लेकिन हम उनसे प्रभावित होते रहते हैं, प्रतिक्रिया करते रहते हैं। राग की प्रतिक्रिया, द्वेष की प्रतिक्रिया। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि हमारी संज्ञा उनका मूल्यांकन करती है और गलत मूल्यांकन करती है। किसी संवेदना को सुखद कहती है, किसी को दुखद, किसी को असुखद-अदुखद। जिसे सुखद कह दिया, प्रिय मान कर उसके प्रति राग की; जिसे दुखद कह दिया, अप्रिय मान कर उसके प्रति द्वेष की प्रतिक्रिया करने का स्वभाव हो गया है हमारा। सुखद संवेदना हो तो उसे कायम रखने अथवा बढ़ाने की प्रतिक्रिया, दुखद संवेदना हो तो उसे शीघ्र दूर करने की प्रतिक्रिया, और यदि असुखद-अदुखद हो तो उससे भी ऊब कर उसे दूर करने के लिए द्वेष और किसी सुखद संवेदना को प्राप्त करने के लिए राग की प्रतिक्रिया करते हैं।

यदि संज्ञा का स्थान प्रज्ञा ले ले तो गलत मूल्यांकन करना छूट जाय। फिर सभी संवेदनाओं का सही मूल्यांकन होगा जो अनुभूतियों के स्तर पर उनके सही गुण-धर्म स्वभाव को जान कर ज्ञानपूर्वक होगा। तब राग-द्वेष की प्रतिक्रिया करनी बंद कर देंगे। यदि प्रज्ञा का सही मूल्यांकन होगा तो यही होगा कि चाहे सुखद है या दुखद अथवा असुखद-अदुखद, स्थूल है या सूक्ष्म, प्रिय है या अप्रिय, सभी संवेदनाएं अनित्य-धर्मा हैं, भंगुर-धर्मा हैं, विपरिणाम-धर्मा हैं, परिवर्तन-धर्मा हैं। आकाश में वायु की तरह, सराय में मुसाफिर की तरह आती हैं तो जाने के लिए, रुके रहने के लिए नहीं।

और इन संवेदनाओं पर अपना कोई अधिकार नहीं, कोई प्रभुत्त्व नहीं। किसी विशेष संवेदना का आवाहन करें तो वह आती नहीं, किसी को रोक रखना चाहें तो रुकती नहीं, किसी को निकालना चाहें तो निकलती नहीं। जो होता है अपने स्वभाव से होता है, कुदरतन होता है।

तो जो अनित्य है, जो अनात्म है, उसके प्रति स्थापित किया गया तादात्म्य-भाव, उसके प्रति की गयी राग या द्वेष की प्रतिक्रिया दुखद ही है।

प्रज्ञा का यह मूल्यांकन सही मूल्यांकन है। इसकी वजह से साधक समता में स्थिर रहता है और सभी दुखों से छुटकारा पाने का रास्ता पा लेता है। यही विपश्यना है। यही चित्त-विशोधनी धर्मगंगा है। यही मुक्ति-दायिनी धर्मगंगा है।

आओ! विपश्यना की इस धर्मगंगा में डुबकी लगा कर सारे दुखों से मुक्ति पा लें, और सही माने में अपना मंगल साध लें!

(२)

शरीर में समय-समय पर भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएं जागती रहती हैं।

अनेक प्रकार के रोग शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएं पैदा करते रहते हैं। वात कुपित हो जाय अथवा पित्त कुपित हो जाय अथवा कफ कुपित हो जाय तो शरीर में संवेदनाएं होती हैं। वात, पित्त, कफ के दूषित सम्मिलन से सन्निपात का विषम वर हो जाय तो शरीर में संवेदनाएं होती हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक रोगों से भी शरीर में अनेक संवेदनाएं उत्पन्न होती ही रहती हैं।

मौसम, ऋतु की वजह से भी शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएं उत्पन्न होती रहती हैं। गर्मी से, सर्दी से, वर्षा से शरीर प्रभावित होता रहता है और परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएं जागती रहती हैं।

अपनी ही असावधानी, नासमझी के कारण भी शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएं पैदा होती हैं। कोई व्यक्ति नासमझी से प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण करता है, ऐसे अनमेल खाद्य एक साथ खा लेता है जिससे जी मिचलाता है, डकारें आती हैं, उल्टियां होती हैं, पेट में मरोड़े आते हैं, अतिसार हो जाता है और इनसे शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएं जागती रहती हैं।

असावधानी से चलता है तो पांव में कांटा गड़ जाता है, ठोकर लग जाती है, गिर पड़ता है, पांव की हड्डी टूट जाती है, कहीं सिर टकरा जाता है, सिर की हड्डी टूट जाती है। असावधानीवश अपने शरीर का संतुलन खो देता है, किसी ऊंचे स्थान से गिर पड़ता है, शरीर की हड्डियां टूट जाती हैं, परिणामस्वरूप संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं। असावधानीवश छुरी-चाकू से अपना अंग काट लेता है तो शरीर में संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं। असावधानीवश किसी सांप, बिच्छू या अन्य जीव-जंतु पर पांव रख देता है, वे उसे डस लेते हैं तो शरीर में संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं।

इसी प्रकार किसी साधना के उपक्रम से भी शरीर में संवेदनाएं होती हैं। कोई साधक जीभ का चटोरा होता है। साधना करना चाहता है पर जीभ के स्वाद की गुलामी भी नहीं छोड़ना चाहता। साधना के शिविरों को पिकनिक के मौज-मजे का साधन बना लेता है। खाने-पीने पर जरा भी नियंत्रण नहीं रखता। चटोरेपन का गुलाम होकर बार-बार बहुत गरिष्ठ अथवा चटपटे भोजन खाता रहता है, परिणामस्वरूप, शरीर में संवेदनाएं होती हैं। एक अन्य साधक इसके विपरीत साधना के उपक्रम में अतिधावन करता है तो दूसरी अति में चला जाता

है। नितांत निराहार रहता है। शरीर को भूखों मार कर सुखाता है और परिणामस्वरूप शरीर में संवेदनाएं पैदा होती हैं।

एक आराम-तलब आलसी साधक शरीर को बहुत सुख पहुँचाता है। गर्मी न लगे, इसलिए एयर-कंडीशंड कमरे में बैठता है। पसीना न आए इसलिए पंखे के नीचे बैठ कर ध्यान करता है। शरीर को जरा भी कष्ट न हो इसलिए गद्दी-मसनद के सहारे अध-लेटा या पूरा लेटा हुआ ध्यान का उपक्रम करता है। कहीं जरा भी शारीरिक पीड़ा जागी तो तुरंत आसन बदलता है। कहीं खुजली जागी, तुरंत खुजलाता है। इस प्रकार शरीर को सुखी रखने की अति में चला जाता है। दूसरा साधक इसके विपरीत साधना का उपक्रम करता हुआ अतिधावन करता है और दूसरी अति की ओर चला जाता है। अपने बावलेपन में समझता है कि शरीर को जितना अधिक कष्ट दूंगा, उतनी अधिक कर्मों की निर्जरा होगी। अतः विभिन्न प्रकार से शरीर को कष्ट देता है, पीड़ा पहुँचाता है। एक ही आसन पर कई दिनों तक बैठे रहकर, एक ही स्थान पर कई दिनों तक खड़े रहकर अथवा अन्य भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर को कष्ट देता है और इस उपक्रम से शरीर में भिन्न-भिन्न संवेदनाएं पैदा होती हैं।

परंतु समझदार साधक प्रकृति के रहस्य को, धर्म को, ऋत को भली-भांति समझता है। वह मध्यम मार्ग अपनाता है। ऋतु, मौसम, रोग आदि के कारण अथवा अपनी ही असावधानीवश शरीर में होने वाली संवेदनाओं को तो समतापूर्वक देखता ही है ताकि राग या द्वेष के नए संस्कार न बनने पायें, साधना के उपक्रम में भी अतिधावन से बचता हुआ पूर्व संस्कारों के विपाकस्वरूप सहज स्वभाव से जो संवेदनाएं शरीर में उठती हैं, उन्हें भी समताभाव से देखता है। ऐसी संवेदनाएं चाहे सुखद हों या दुखद अथवा असुखद-अदुखद, उनके प्रति जरा भी प्रतिक्रिया नहीं करता। उनके प्रति अनित्य-बोध जगाये रहता है। राग-विहीन, द्वेष-विहीन, मोह-विहीन बना रहता है तो पूर्व कर्मों का सचमुच क्षय करके नितांत दुख-विमुक्त अवस्था तक जा पहुँचता है।

आओ, सभी संवेदनाओं के प्रति समता का भाव रखते हुए दुख-विमुक्ति के इस सहज प्राकृतिक और वैज्ञानिक मार्ग पर चलकर अपना कल्याण साध लें, अपना मंगल साध लें!

(३)

इस साढ़े तीन हाथ की काया में सारा संसार समाया हुआ है। इसी शरीर में भवचक्र समाया हुआ है। भवचक्र का कारण समाया हुआ है। भवचक्र से विमुक्त होना समाया हुआ है। भवचक्र से विमुक्त होने का उपाय समाया हुआ है। इसीलिए मुमुक्षु साधक के लिए शरीर-निरीक्षण का इतना बड़ा महत्त्व है। शरीर के आधार पर प्रवर्तमान प्रपंच की सम्यक जानकारी नहीं होती तो अपने भीतर भवचक्र प्रवर्तन होता ही रहता है। इसकी सम्यक जानकारी होती रहे तो भवचक्र का निरोध होते-होते नितांत भव-विमुक्ति का साक्षात्कार हो जाता है।

हमारी छहों इंद्रियां – आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन – शरीर पर आधारित हैं और इन छह एएंद्रिय दरवाजों को छोड़ कर अन्य किसी दरवाजे से हमारा लोक-संपर्क हो नहीं सकता। इन छहों इंद्रियों के संपर्क में आता है तो ही संसार हमारे लिए संसार है अन्यथा उसका हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं।

कोई रूप आंख के संपर्क में आता है तो ही हमारे लिए रूप है अन्यथा उसका कोई अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार जब कोई शब्द कान के संपर्क में, गंध नाक के संपर्क में, रस जीभ के संपर्क में, स्पृष्टव्य पदार्थ त्वचा के संपर्क में, विचार चिंतन कल्पना आदि मन के संपर्क में आते हैं तो ही हमारे लिए उनका कोई अर्थ है, अन्यथा उनका कोई अस्तित्व ही नहीं। हमारे लिए सारे संसार का अस्तित्व शरीर में स्थित इन छह दरवाजों पर ही प्रकट होता है। इसलिए ठीक ही कहा गया है कि सारा संसार इस साढ़े तीन हाथ की काया में समाया हुआ है।

परम सत्य की खोज करने वाला सच्चा शोध-प्रिय वैज्ञानिक साधक जब सभी कल्पनाजन्य निकम्मी, निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं को एक ओर रख कर केवल अनुभूत सत्य को ही स्वीकार करता हुआ अनुसंधान का काम शुरू कर देता है तो उसके लिए प्रकृति अपने सभी रहस्यों का उद्‌घाटन करने लगती है। साधक स्वमुखी होकर स्थूल सत्यों से आरंभ कर सूक्ष्म सत्यों को जानता हुआ उस अवस्था तक पहुँच जाता है जहां काया और चित्त के सभी प्रपंच स्पष्ट होने लगते हैं। साधक देखता है कि चक्षु और रूप के संपर्क से चक्षु-विज्ञान उत्पन्न होता है, याने मानस का वह खंड प्रकट होता है जो कि चक्षु और रूप के संपर्क-सत्य को जानने का काम करता है। वह यह भी जान लेता है कि यह संपर्क होते ही एक तरंग पैदा होती है, शरीर पर संवेदना पैदा होती है, जैसे किसी कांसे के बर्तन को छूने पर उसमें झन्नाहट पैदा होती है। इतने में संज्ञा याने मानस का एक और खंड जागता है जिसका काम है चक्षु के संपर्क में आए हुए रूप को पहचानना। नारी है? नर है? काला है? गोरा है? सुंदर है? असुंदर है?

और इस पहचान के आधार पर उसका मूल्यांकन करना। जैसे ही संज्ञा ने पहचानने और मूल्यांकन करने का काम किया, चक्षु और रूप के संपर्क से शरीर पर उत्पन्न हुई संवेदना में परिवर्तन आने लगा। मानस का संवेदनशील खंड अपना काम करने लगा। मूल्यांकन अच्छा हुआ तो संवेदना सुखद हो गयी, बुरा हुआ तो दुखद। अब मानस का चौथा खंड अपना काम शुरू करता है। शारीरिक संवेदना सुखद हो तो राग की, दुखद हो तो द्वेष की प्रतिक्रिया करने लगता है। यों मानस के चारों खंड किस प्रकार काम करते हैं, यह बात स्पष्ट मालूम होने लगती है।

राग से सुखद संवेदना की वृद्धि होती है। सुखद संवेदना से राग की वृद्धि होती है। द्वेष से दुखद संवेदना की वृद्धि होती है। दुखद संवेदना से द्वेष की वृद्धि होती है। साधक यह भी समझता है कि इस प्रकार संवेदनाओं के आधार पर राग-द्वेष का एक कुचक्र चल पड़ता है, जिसका संवर्धन होता ही रहता है।

जैसे चक्षु और रूप के संस्पर्श से उत्पन्न हुई संवेदना के आधार पर प्रपंच आरंभ होता है, वैसे ही नाक और गंध के संस्पर्श से, कान और शब्द के संस्पर्श से, जीभ और रस के संस्पर्श से, त्वचा और स्पृष्टव्य पदार्थ के संस्पर्श से, मन और चिंतन के संस्पर्श से उत्पन्न हुई संवेदना के आधार पर प्रपंच आरंभ होता है और राग-द्वेष के भवचक्र के संवर्धन का कारण बन जाता है।

साधक निरर्थक दार्शनिक बातों के जंजाल में न पड़कर, इसी प्रपंच को साक्षीभाव से देखने लगता है तो अभ्यास करते-करते राग-द्वेष के भवचक्र से छुटकारा पा ही लेता है।

आओ! सभी शारीरिक संवेदनाओं और उनसे उत्पन्न होने वाले प्रपंच को साक्षीभाव से देखना सीखें और इस प्रकार भवचक्र से विमुक्त हों! इसी में हमारा सही मंगल है, कल्याण है!

(४)

काया पर होनेवाली संवेदना, चाहे सुखद हो या दुखद, जब हम उसके सुख-दुख को भोगना छोड़कर, उसे तटस्थभाव से देखने का उपक्रम शुरू करते हैं, तो अनेक सच्चाइयां अपने आप प्रकट होने लगती हैं।

एक तो यह कि स्पर्श होता है तो ही काया पर संवेदना जागती है। आंख से रूप का, कान से शब्द का, नाक से गंध का, जीभ से रस का, काया से किसी स्पृष्टव्य पदार्थ का और मन से चिंतन का अथवा शरीर का स्पर्श होता है तो

संवेदना जागती है। यह निसर्ग का अटूट नियम है। साधक इस तथ्य को विपश्यना साधना करते हुए अनुभूतियों के स्तर पर बखूबी जानने लगता है।

विपश्यना करते हुए इन संवेदनाओं को साक्षीभाव से देखते रहने का प्रयास करते रहने पर भी मन के पुराने स्वभाव के कारण, साधक बहुधा साक्षीभाव को भूलकर फिर भोक्ताभाव में डूब जाता है। थोड़ी देर के लिए ही सिर पानी के ऊपर उठता है, परंतु फिर पानी के नीचे चला जाता है और अदृश्य बहाव में बहने लगता है। यदा-कदा फिर पानी के ऊपर सिर उठता है परंतु शीघ्र ही फिर पानी के नीचे डूबकर बहाव में बहने लगता है। यों बार-बार के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन भोक्ताभाव का आदी है, संवेदनाओं का रसास्वादन करने का आदी है। दुखद हो तो दुख का आस्वादन, सुखद हो तो सुख का आस्वादन करता रहता है।

मन के इस स्वभाव का बार-बार निरीक्षण करने पर साधक आस्वादन के आदीनव यानी दुष्परिणाम के खतरे को भी समझने लगता है। हर आस्वादन राग अथवा द्वेष पैदा करता है जिससे कि संवेदनाएं अधिक तीव्र होती हैं। परिणामस्वरूप और अधिक राग-द्वेष पैदा होता है। यों दुख का कुचक्र चल पड़ता है। यही दुखसमुदयगामिनी प्रतिपदा है। साधक यह बखूबी जान लेता है कि इस प्रतिपदा पर याने इस मार्ग पर चलते-चलते वह चिरकाल से दुख-संवर्धन ही करता रहा है।

अब इस आस्वादनमय भोक्ताभाव को छोड़कर उपेक्षाभाव में, तटस्थभाव में स्थित होता है तो देखता है कि दुख का यह कुचक्र रुका है, दुख-निरोध हुआ है। सचमुच यही दुखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है।

उसे वह सच्चाई स्पष्ट होती है कि शरीर पर होने वाली संवेदना एक ऐसा जंक्सन है जिससे दो रास्ते फूटते हैं। एक दुखसमुदयगामिनी प्रतिपदा और दूसरी दुखनिरोधगामिनी प्रतिपदा।

यह दोनों आर्यसत्य जब स्वानुभूतियों के स्तर पर समझ में आने लगते हैं तो साधक अत्यंत सजग रहता हुआ समुदयगामिनी प्रतिपदा को त्यागता है और निरोधगामिनी प्रतिपदा पर बढ़ने लगता है। इस प्रकार द्रष्टाभाव की विपश्यना करता हुआ इन संवेदनाओं के आधार पर राग-द्वेष की प्रतिक्रिया करने वाले स्वभाव से निस्सरण करता है, निकलता है।

साधना की प्रारंभिक अवस्थाओं में साधक का सिर अधिकांशतः पानी के नीचे रहता है। पर अभ्यास करते-करते सिर अधिक समय पानी के ऊपर रहने लगता है। तटस्थभाव पुष्ट होने लगता है। नए राग-द्वेष बनने बंद होने लगते हैं

और पुरानों का क्षय होने लगता है। फलतः साधक निरोध समापत्ति की अवस्था पर पहुँचकर इंद्रियातीत निर्वाणिक स्थिति की अनुभूति कर लेता है। साधना करता हुआ जितनी देर इस निर्वाणिक अवस्था में रहता है उतनी देर नाम और रूप का विच्छेद रहता है, याने शरीर और चित्त का संपर्क टूटा रहता है। अतः उन दोनों के स्पर्श से होने वाली संवेदनाओं का निरोध रहता है। यह निर्वाण-अवस्था इंद्रियातीत होने के कारण उस समय छहों इंद्रियां काम करना बंद कर देती हैं। परिणामस्वरूप इन इंद्रियों पर अपने-अपने विषयों के स्पर्श से होने वाली संवेदना निरुद्ध हो जाती है।

साधक संवेदनाओं के आस्वादन करने वाले स्वभाव से निस्सरण करता हुआ संवेदनाओं के प्रति साक्षीभाव पुष्ट कर उस अवस्था तक जा पहुँचता है जहां संवेदनाओं का ही नितांत निरोध हो जाता है और इस प्रकार दुखों का नितांत निरोध हो जाता है। भवचक्र टूट जाता है।

आओ, हम भी इस प्रकार लगन से, परिश्रम से, निष्ठा से, पुरुषार्थ से दुखसमुदयगामिनी प्रतिपदा का परित्याग करते हुए, दुखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का प्रतिपादन करें और अपना मंगल साध लें, कल्याण साध लें!

(५)

चार जन्मांध व्यक्तियों को एक पालतू हाथी के समीप लाकर खड़ा कर दिया गया और उनसे कहा गया कि इसके बारे में पूरी जानकारी हासिल करके बताओ कि हाथी कैसा होता है? उनमें से किसी ने हाथी कभी देखा नहीं था। देखते भी कैसे? आंखें तो थीं ही नहीं! अतः हाथों से टटोल-टटोल कर उसकी जानकारी लेने लगे। पहले के हाथ में हाथी के पांव लगे। उसने टटोल कर देखा और अपना निर्णय दिया कि हाथी खंभे जैसा है। दूसरे के हाथ में हाथी की पूंछ आयी और उसने निर्णय दिया कि हाथी झाड़ू जैसा है। तीसरे के हाथ में हाथी के कान लगे, उसने निर्णय दिया कि हाथी पंखे जैसा है। चौथे के हाथ में हाथी का दांत आया तो उसने फैसला दिया कि हाथी खूंटे जैसा है।

चारों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार हाथी की व्याख्या कर दी। परंतु सब ने आंशिक सत्य ही जाना, पूर्ण सत्य नहीं। अतः प्रत्येक की व्याख्या वास्तविक सत्य से बहुत दूर रही। आंशिक सत्य सदा भ्रामक होता है। जैसे-जैसे पूर्ण सत्य की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे भ्रम-भ्रांति दूर होती जाती है।

जब तक कोई व्यक्ति आंशिक सत्य का जीवन जीता है, तब तक भ्रम-भ्रांति का ही जीवन जीता है। जब तक किसी बात को एकांत दृष्टि से

देखता है यानी एकांगी दृष्टिकोण से देखता है, तब तक आंशिक सत्य ही देखता है, भ्रामक सत्य ही देखता है। जब उसी बात को अनेकांत दृष्टि से याने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखने लगता है तो पूर्ण सत्य देखने लगता है। प्रज्ञा से देखने लगता है। **पकारेन जानातीति पञ्ञा –** प्रकार-प्रकार से जानना ही प्रज्ञा है। इससे भ्रम-भ्रांति, माया-मरीचिका दूर हटने लगती है।

जब हम केवल बहिर्मुखी रहते हैं तो एकांगी दृष्टि से देखते हुए आंशिक सत्य का याने भ्रम-भ्रांति का ही जीवन जीते हैं। परंतु जब अंतर्मुखी होते हैं तो अनेकांगी दृष्टि से देखते हुए भ्रम-भ्रांतियों से छुटकारा पाकर पूर्ण सत्य की ओर बढ़ने लगते हैं।

अंतर्मुखी होना हमें पूर्ण सत्यता की ओर कैसे ले जाता है? इसे समझें। आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, और मन के देखने, सुनने, चखने, छूने और विचारने के आधार पर ही हमारे लिए किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि का अस्तित्व है। इसके बिना नहीं। जब हम केवल बहिर्मुखी रहते हैं तो इन विषयों के सेवन में इतने निमग्न हो जाते हैं कि उस समय उनके अस्तित्व के आधार की ओर यानी अपनी ओर देखते ही नहीं। आंशिक सत्य की भ्रांति में अपना होश खो बैठते हैं। लेकिन जब बाह्य विषयों के साथ-साथ सजग रहकर अपने-आपको देखने लगते हैं तो बात कुछ और ही होती है। बाहर का आलंबन जब भीतर की अनुभूतियों को उजागर करता है तो संपूर्ण सत्य की सजगता का काम शुरू हो जाता है। "स्व" में स्थित होकर देखते हैं तो स्वस्थ होकर देखते हैं, भोक्ताभाव से निकलकर साक्षीभाव से देखने का उपक्रम शुरू होता है। भ्रामक आंशिक सत्य से पूर्ण सत्य की ओर कदम उठने लगते हैं तब स्पष्ट मालूम होने लगता है कि हमारे लिए प्रत्येक विषय का अस्तित्व किसी न किसी इंद्रिय द्वार पर संपर्क होने से ही होता है। इससे सारा प्रपंच स्पष्ट होने लगता है। किसी भी इंद्रिय द्वार पर तत्संबंधित विषय के संपर्क में आने पर मानस का एक भाग जानने का काम करता है, दूसरा पहचानने और मूल्यांकन करने का, तीसरा संवेदनशील होने का और चौथा प्रतिक्रिया करने का काम करता है। देखते हैं कि पांचों इंद्रियां तो शरीर पर केंद्रित हैं ही, मन भी शरीर पर ही स्थित है। शरीर से अलग नहीं। अतः हमारे लिए शारीरिक इंद्रियों के सभी आलंबनों की और इसी प्रकार मन के सभी आलंबनों की वास्तविक सच्चाई बाहर नहीं, अपने शरीर की सीमा के भीतर है। सच्चाई के इस महत्त्वपूर्ण हिस्से को भुला दें तो सत्य की पूर्णता नहीं प्राप्त होती। बाहर की सच्चाई का शरीर की सीमा के भीतर वेदन करना याने अनुभव करना और उस वेदन को भी साक्षीभाव से देखना ही सत्य

की संपूर्णता की ओर बढ़ना है। बाहर से सभी रूप, शब्द, गंध, रस, स्पृष्टव्य-पदार्थ का और भीतर के संकल्प-विकल्प का प्रत्यक्षीकरण करता है तो अपने शरीर और मन के संयुक्त धरातल पर उनका अनुभव करता है याने वेदन करता है। साधक इस अनुभव से जान लेता है कि यह वेदन सुखद हो या दुखद, सूक्ष्म हो या स्थूल, सर्वदा अनित्य ही है। जो अनित्य है वह दुख ही है। जो स्वभाव से ही अनित्य है उस पर हमारा कोई अधिकार नहीं, प्रभुत्व नहीं। इस अनित्यधर्मा को नित्यधर्मा बनाना चाहें तो बना नहीं सकते। दुखधर्मा को सुखधर्मा बनाना चाहें तो बना नहीं सकते। इसी माने में अनात्म है।

बाहर या भीतर के किसी भी आलंबन का जब-जब यों प्रज्ञा-पूर्ण स्वानुभव होता है या वेदन होता है तो अनित्य, दुख, अनात्म बोध ही जागता है। इससे अहं, मम की सघन माया पिघलती है। पूर्ण सत्य स्पष्ट होता है, क्योंकि अब इंद्रियों का आलंबनमात्र ही प्रमुख नहीं रह जाता बल्कि उसके साथ-साथ आलंबन के अस्तित्व का वास्तविक आधार यानी अपने तन और मन के संयुक्त धरातल का भी बोध होने लगता है। उस पर होने वाली हलचल का भी बोध होने लगता है। इस अवस्था में सत्य आंशिक न रहकर पूर्ण होने लगता है। अन्यथा तन और मन के जिस संयुक्त धरातल पर आलंबन का अस्तित्व है, वह धरातल ही अनजाना रह जाय तो आलंबन का यह सत्य आंशिक ही रहता है और भ्रम-भ्रांति पैदा करता रहता है। विपश्यना का अभ्यास इसीलिए है कि शनैः-शनैः प्रयत्नों द्वारा उस अवस्था पर पहुँचें, जहां संप्रज्ञान याने संपूर्ण जानकारी वाली सजगता बनी रहे। हर अवस्था में बनी रहे। लेटे, बैठे, खड़े, चलते-फिरते, खाते-पीते, नहाते-धोते, बोलते-मौन रहते, सुनते, देखते, चखते, सूंघते, छूते संपूर्ण सजगता बनी रहे। चिंतन चले तो भी स्पष्ट अनुभव होता रहे कि मन सदैव शरीर से जुड़ा है। अतः चिंतन का आधार केवल मन ही नहीं बल्कि मन और तन का संयुक्त धरातल है। चिंतन के समय मन शरीर के बाहर नहीं चला जाता। मन उस समय के काल्पनिक विषय में रमण करने लगता है, पर रहता शरीर में ही है। लेकिन अज्ञानवश अपने ही आधार को याने शरीर को और शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को भुला देता है। आंशिक सत्य की माया उसे भरमा देती है। परंतु जब होश जागता है तो फिर स्वस्थ हो जाता है। "स्व" में स्थित हो जाता है। संवेदनाओं का आधार नहीं छोड़ता तो संपूर्ण सत्य की सजगता में प्रतिष्ठित होता है। यही प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होना है।

जब ऐसा होता है तो ही सही माने में आर्यसत्यों का साक्षात्कार होता है। आर्यसत्य केवल श्रद्धा के भावावेश अथवा बुद्धि के तर्कविलास से स्वीकार करने के लिए नहीं हैं। इनका दर्शन हो याने अनुभव हो, वेदन हो तो ही आर्यसत्य

'आर्यसत्य' हैं। साधक वेदन के आधार पर ही समझता है कि जो दुःखद है सो तो प्रत्यक्ष दुख है ही, परंतु जो सुखद है अथवा असुखद-अदुखद है वह भी अनित्य होने के कारण अंततः दुखधर्मा ही है। इसी संपूर्ण सजगता के आधार पर इस प्रथम आर्यसत्य का दर्शन करने लगता है।

इसी प्रकार साधक प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा देखता है कि बाहरी या भीतरी आलंबन जो भी हो, तन और मन के संयुक्त धरातल पर जब-जब उसकी प्रिय संवेदना होती है, तब-तब राग की तृष्णा जगाकर और जब-जब अप्रिय संवेदना होती है, तब-तब द्वेष की तृष्णा जगाकर दुखी ही होता है। इस प्रकार दुख के कारण-रूपी दूसरे आर्यसत्य का भी स्वयं साक्षात्कार करता है।

इस संपूर्ण सजगता के कारण ही दुखों से मुक्त होने का मार्गदर्शन होता है। मुक्ति के मार्ग पर हर कदम संपूर्ण सजगता से उठाता है।

ऐसी अवस्था में दर्शन मात्र फिलासफी नहीं रह जाता। प्रज्ञा केवल श्रुतमयी या चिंतनमयी नहीं रह जाती। अब प्रज्ञा का वास्तविक जीवन जीता है। प्रज्ञा अनुभूतियों के स्तर पर भावित होती है। अतः भावनामयी होती है। इससे दर्शन सम्यक होता है, गलत नहीं, मिथ्या नहीं।

इसी प्रकार जो संकल्प-विकल्प होते हैं वे सम्यक ही होते हैं, गलत नहीं, मिथ्या नहीं।

ऐसा संपूर्णतया सजग साधक जब वाणी से कुछ बोलता है तो सत्यही, मिथ्या नहीं; मधुर ही, कटु नहीं; सार्थक ही, निरर्थक नहीं। यों वाणी सम्यक होती है।

शरीर से जब कोई काम करता है तो भी सम्यक ही करता है। ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे अन्य प्राणियों की हानि हो। न हत्या करता है, न व्यभिचार, न मद्यसेवन। यों कर्मांत स्वतः सम्यक हो जाते हैं।

आजीविका ऐसी होती है जिससे अन्य प्राणियों को अपने सदाचार भंग करने का प्रोत्साहन न मिले। अन्य प्राणियों की सुख-शांति भंग न हो। यों आजीविका सम्यक होती है।

सारे मानसिक व्यायाम याने प्रत्यक्ष पुरुषार्थ भी सम्यक होते हैं। नया दुर्गुण अपने भीतर आने नहीं देता। जो पुराने संगृहीत हैं, उन्हें दूर करता है। जो सद्गुण नहीं हैं, उनको जगाता है और जो हैं उनका संवर्धन करता है। यों सम्यक व्यायाम होता है।

संपूर्ण जानकारी वाली सजगता होती है तो ही स्मृति सम्यक होती है।

यों क्षण-क्षण संपूर्ण सजग रहता हुआ चित्त की जो एकाग्रता प्राप्त करता है, समाधि उपलब्ध करता है वह भी सम्यक होती है, मिथ्या नहीं, भ्रामक नहीं, कल्पनाजन्य नहीं।

साधक अष्टांगिक आर्यमार्ग का अनुभूतियों के स्तर पर दर्शन करता है, तो इस आर्यसत्य का जीवन जीता हुआ नए संस्कार बनाना बंद कर देता है और पुरानों का क्षय करते-करते इसी जीवन में इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था की अनुभूति कर लेता है और इस प्रकार दुख-निरोध की आर्य अवस्था पर पहुँच जाता है।

यों आर्यसत्य का धर्म जब केवल अंधभावावेश अथवा बौद्धिक ऊहापोह का विषय न रह कर धारण करने का विषय बन जाता है, तब वस्तुतः परम कल्याणकारी होता है।

आओ! अपने तन और मन के संयुक्त धरातल पर क्षण-प्रतिक्षण प्रकट होने वाली संवेदनाओं की सच्चाइयों की संपूर्ण जानकारी रखते हुए सतत जागरूकता का जीवन जीने का अभ्यास करें और वस्तुतः अपना परम मंगल-कल्याण साध लें!

(६)

जो सच्चाई बाहर है वही भीतर है। जो भीतर है, वही बाहर है। बाहर की सच्चाई श्रद्धा अथवा बुद्धि के स्तर पर स्वीकारी जा सकती है, परंतु यदि सच्चाई को प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जानना हो तो खोज भीतर ही करनी होगी। स्वयं वेदन करना ही प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जानना है। स्वयं वेदन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही वेद कहलाता है। स्वयं वेदन द्वारा अपने भीतर जानी गयी सच्चाई ही अध्यात्म की सच्चाई कहलाती है।

जब कोई जिज्ञासु, मुमुक्षु साधक आध्यात्मिक सत्य की खोज शुरू करता है तो सर्वप्रथम स्थूल-स्थूल सत्य की ही अनुभूति होती है। परंतु जैसे-जैसे साक्षीभाव से अनुसंधान जारी रखता है, वैसे-वैसे स्थूल से सूक्ष्म सच्चाइयों की ओर बढ़ता हुआ अंततः परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसे स्वानुभूतियों के स्तर पर जान लेता है।

अध्यात्म यानी अपने भीतर सत्य की खोज करना ही विपश्यना है। साधक अंतर्मुखी हो कर जब अपने बारे में सच्चाई की खोज करता है तो दो क्षेत्र सामने आते हैं – काया और चित्त। काया के बारे में अनुसंधान करने को कायानुपश्यना और चित्त के बारे में अनुसंधान करने को चित्तानुपश्यना कहते हैं। परंतु इन

दोनों को एक दूसरे से अलग करके अनुसंधान का काम नहीं हो सकता। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः एक के बारे में अनुसंधान करें तो दूजा सहायक सिद्ध होता है। एक के बिना दूसरे की खोज पूरी नहीं हो सकती।

जिसे वास्तविकता की खोज करनी है वह कल्पनाओं का, थोथी अटकलपच्चियों का सहारा नहीं लेता। वह प्रत्यक्ष अनुभूतियों के सहारे ही आगे बढ़ता है। आंख बंद करके कायानुपश्यना करने वाला साधक जब शरीर के भिन्न-भिन्न हिस्सों में अपना मन ले जायगा तो बिना कल्पना किए कैसे जानेगा कि यह सिर है, यह चेहरा है, यह हाथ है, यह पांव है, यह धड़ है इत्यादि? और कल्पना करेगा तो विपश्यना नहीं होगी। सही सत्य की खोज नहीं होगी। स्वानुभूतियों से जानना नहीं होगा। स्वानुभूति से जानना तभी होगा जब उस अंग में कोई संवेदना महसूस होगी। अतः किसी अंग की विद्यमानता को जानता है तो उस पर होने वाली संवेदनाओं को जानना नितांत अनिवार्य है। शरीर के अंग-अंग में, अंग-अंग के अणु-अणु में प्रतिक्षण कोई न कोई संवेदना होती ही रहती है। अतः अनुभूति के स्तर पर इन अंगों की पूरी-पूरी जानकारी करनी हो तो इन पर होने वाली संवेदना की जानकारी करनी होगी।

इसलिए काया के क्षेत्र में अनुसंधान करने वाले साधक को कायानुपश्यना करते हुए, इसके साथ-साथ काया पर उत्पन्न होने वाली संवेदना की जानकारी करवाने वाली वेदनानुपश्यना भी अनिवार्य है। शरीर के आधार पर संवेदना की अनुभूति होती है। संवेदना के सहारे शरीर की पूरी जानकारी होती है। वेदना केवल शरीर से ही संबंधित सच्चाई नहीं है, चित्त के चार खंडों (विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार) में से भी एक है। संवेदना के सहारे साधक शरीर का निरीक्षण करता है तो अनुभूतियों के स्तर पर शरीर का अनित्य स्वभाव प्रकट होता है। अंग-प्रत्यंग में उत्पाद और व्यय की अनुभूति होती है और अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में पहुँचने पर शरीर के अणु-अणु में शीघ्र गति से व्यय होने वाली संवेदना की अनुभूति होती है। संवेदनाओं के आधार पर ही उनके परिवर्तनशील स्वभाव की अनुभूतिजन्य जानकारी होती है। ठोस, तरल, वायव्य और तापमान-युक्त शरीर वस्तुतः तो प्रकंपन ही प्रकंपन है। उदय-व्यय ही उदय-व्यय है। भंगमान ही भंगमान है। प्रकट रूप में घनीभूत ठोस लगने वाला शरीर वस्तुतः तरंगमय ही तरंगमय है। संवेदनाओं के सहारे ही यह सत्य अनुभूत होता है। इससे अनित्य बोध पुष्ट होता है। शरीर के प्रति तादात्म्यभाव टूटता है। परिणामतः शरीर के

प्रति आसक्ति टूटती है। निस्संगभाव जागता है। प्रज्ञा पुष्ट होती है। संवेदनाओं के आधार पर साधक काया के अंतिम सत्य तक पहुँचता है।

शरीर पर जो कुछ वेदन होता है, उसी के आधार पर साधक वेदनानुपश्यना करता है। संवेदनाएं सुखद हों या दुखद अथवा असुखद-अदुखद, उन्हें साक्षीभाव से देखता हुआ भोक्ताभाव दूर करता है। उनके उत्पाद-व्यय स्वभाव को अनुभूतियों के स्तर पर समझता हुआ, उनके प्रति निस्संग, निरासक्तभाव पुष्ट करता है।

यों काया पर प्रकट होने वाली संवेदनाओं के आधार पर कायानुपश्यना और वेदनानुपश्यना करता हुआ साधक काया के क्षेत्र का गहन अध्ययन करता है। अनुसंधान करता है। ऐसी है यह काया, ऐसी हैं ये संवेदनाएं जो कितनी भ्रांतियां पैदा करती हैं, उलझनें पैदा करती हैं। इसे समझता है।

इसी प्रकार चित्त का अनुसंधान करने के लिए साधक चित्तानुपश्यना करता है। परंतु चित्त में जो हलचल होती है, उसे जाने बिना चित्त के बारे में अनुभूतियों के स्तर पर जानकारी आरंभ नहीं हो सकती। अतः चित्तानुपश्यना के साथ-साथ धम्मानुपश्यना भी करता है। साधना की पुरातन पारिभाषिक शब्दावली में चित्त जो कुछ धारण करता है, वह **धम्म** कहलाता है। अतः चित्त पर जो कुछ प्रकट हो रहा है, उसे साक्षीभाव से जानने को ही धम्मानुपश्यना कहते हैं। चित्त जब राग धारण करता है तो चित्तानुपश्यी साधक जानता है कि यह **सराग** चित्त है। जब राग दूर होता है तो जानता है कि यह **वीतराग चित्त** है। यों ही यह **सद्वेष** चित्त है, यह **वीतद्वेष** चित्त है। यह **समोह** चित्त है, यह **वीतमोह** चित्त है। यह **वाचाल** चित्त है, यह **मौन** चित्त है। यह **अशांत** चित्त है, यह **शांत** चित्त है इत्यादि। यों भली प्रकार जानता है।

चित्त ने जो कुछ धारण किया उसे साक्षीभाव से जानना ही **धम्मानुपश्यना** है। साधक देखता है कि इस समय चित्त पर क्या जागा है? यह राग है? अथवा द्वेष है? अथवा आलस है? बेचैनी है? पश्चात्ताप है? अथवा शंका है? संदेह है? इसी प्रकार साधक देखता है कि चित्त पर जागी हुई यह सजगता है, धर्म-चिंतन है, पुरुषार्थ है, आनंद है, प्रश्रांति है, प्रश्रब्धि है, समाधि है अथवा समता है। यों जो-जो अच्छाई या बुराई चित्त पर जागती है उसे साधक साक्षीभाव से देखता हुआ धम्मानुपश्यना करता है। चित्त पर ही धर्म जागते हैं और धर्मों के सहारे चित्त की उपस्थिति की विपश्यना की जाती है। अतः धम्मानुपश्यना और चित्तानुपश्यना साथ-साथ चलती है।

बड़े-बड़े भावावेशों या उत्तेजनाओं, उद्विग्नताओं का तो कहना ही क्या, नन्हें से नन्हा संकल्प-विकल्प भी, चिंतन-मनन भी केवल चित्त पर ही नहीं बल्कि चित्त और काया यानी नाम और रूप के संयुक्त धरातल पर जागता है।

यह चित्त और काया यानी नाम और रूप का संयुक्त धरातल संवेदनाओं के रूप में ही प्रकट होता है। चित्त और काया का प्रतिक्षण होता हुआ पारस्परिक संस्पर्श प्रतिक्षण संवेदना प्रकट करता है। अत: जैसे संवेदनाओं के आधार पर कायानुपश्यना और वेदनानुपश्यना होती है, वैसे ही संवेदनाओं के आधार पर चित्तानुपश्यना और धम्मानुपश्यना होती है। संवेदनाओं के आधार पर ही साधक जान लेता है – ऐसा है यह चित्त। ऐसे हैं यह **धम्म** । अनित्य, नश्वर, भंगुर। प्रतिक्षण परिवर्तनशील।

संवेदनाओं के ही आधार पर साधक काया और चित्त के इस मिले-जुले प्रपंच का पूरी तरह अध्ययन करता है, अनुसंधान करता है। यही **सम्पजञ्ञ** (संप्रज्ञान) कहलाता है। यही सतिपट्ठान कहलाता है, यानी सजगता का संपूर्णतया प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हो जाना कहलाता है।

संवेदनाओं के आधार पर साधक काया और चित्त के सूक्ष्मतम अंतिम सत्यों का साक्षात्कार करता है जो कि अनित्य स्वभाव वाले हैं और इसके बाद इनका भी अतिक्रमण करके इंद्रियातीत, भवातीत, लोकातीत, निर्वाण के उस परम सत्य का साक्षात्कार करता है, जो कि नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, अपरिवर्तनशील है, अजर है, अमर है, अमृत है। इस अवस्था में इंद्रियां काम करना बंद कर देती हैं। अत: सभी संवेदनाओं का स्वभावत: निरोध हो जाता है।

इस प्रकार साधक संवेदनाओं के सहारे-सहारे काया और चित्त के अनित्य धर्म का ही नहीं, उन्हें देखते-देखते उनके निरुद्ध हो जाने पर काया और चित्त के परे निर्वाण के नित्य धर्म का भी साक्षात्कार करता है। यों धम्मानुपश्यना संपन्न होती है। चारों सतिपट्ठान सफल होते हैं। शोधकर्ता का शोधकार्य सफल होता है। साधक की साधना सफल होती है।

आओ, संवेदनाओं के आधार पर अपना शोधकार्य पूरा करें। साधना सफल करें और सही माने में अपना मंगल साध लें!

(७)

किसी संप्रदाय का व्यक्ति हो, अपने संप्रदाय के धर्मग्रंथों में छपी धर्मशिक्षा की बातें बार-बार पढ़ते-पढ़ते श्रद्धा अथवा बुद्धि के स्तर पर भी यह मानने लगता है कि शील-सदाचार का जीवन जीना चाहिए; मन का गुलाम नहीं रहना

चाहिए। यह भी मानने लगता है कि विकारों से छुटकारा पाना चाहिए; आसक्तियों से मुक्ति पानी चाहिए।

परंतु धर्मग्रंथों के ज्ञान को मानने मात्र से क्या होता है? वास्तविकता के स्तर पर लाभ नहीं होता। पुस्तक में छपे हुए पानी के वर्णन को पढ़ कर किसी प्यासे की प्यास कहां बुझती है? रेस्टोरेंट के मीनू-कार्ड पर छपे भोजन के विवरण को पढ़ कर किसी भूखे की भूख कहां मिटती है? डाक्टर के पुर्जे पर लिखे हुए दवा के नामों को पढ़ कर किसी रोगी का रोग कहां दूर होता है?

प्यासा आदमी प्यास से तड़पता रहे और पानी के वर्णन को पढ़-पढ़ कर अपना मन बहलाने की कोशिश करता रहे, भूखा भूख से तड़पता रहे और मीनू-कार्ड को पढ़-पढ़ कर, रोगी रोग से व्याकुल रहे और औषधि के पुर्जे को पढ़-पढ़ कर मन बहलाने की कोशिश करता रहे तो अभागा ही है न! धर्मचर्चा से मन बहलाने में और धर्म-धारण करने में इतना ही बड़ा अंतर है। चर्चा करे, पर धारण न करे तो सचमुच अभागा ही है।

परंतु धारण करना सरल नहीं है। चर्चा सरल है। धारण करने के लिए मन को निर्मल करना पड़ता है, सर्वथा विकार-विहीन करना पड़ता है। कुछ समय के लिए मन का दमन भले कर ले अथवा किसी प्रिय आलंबन के सहारे उसे कुछ देर के लिए भुलावे में भले रख ले, परंतु जब तक अंतस विकारों से भरा है, रोग का सही इलाज नहीं हुआ।

अक्सर जब कोई व्यक्ति किसी दुःखद स्थिति का सामना करता है और उसकी वजह से व्याकुल हो उठता है तो दुःख को भुलाने के लिए वस्तुस्थिति से पलायन करता है। मुँह मोड़ता है। दुखियारे मन को कहीं और लगाता है। दुःख भुलाने के लिए किसी आमोद-प्रमोद में, खेल-तमाशे में, सिनेमा-नाटक में मन लगाता है अथवा गम-गलत करने के लिए नशे-पते में मन लगाता है। यदि ऐसा न करे तो किसी मंदिर-देवालय में, कर्म-कांड में, भजन-कीर्तन में मन लगाता है; जो पहले से भले जरा अच्छा है, परंतु पलायन तो पलायन ही है। कुछ देर के लिए मन भले बहला ले लेकिन भीतर दबा हुआ दुख समय पा कर और अधिक वेग से विस्फोटित होता है। दुख से छुटकारा नहीं मिलता। दुख का संवर्धन ही होता है।

वस्तुतः दुख भीतर ही जागता है, इसका सही कारण भीतर के विकारों में निहित है। अतः इसका उपचार भीतर ही करना होता है। बाहर के आलंबन बदलने से भुलावा भले हो, छलना भले हो, उपचार नहीं होता।

अतः व्यक्ति समझदार हो तो सही ढंग से चिंतन-मनन शुरू करता है। मैं दुखी क्यों हुआ? यह जो अप्रिय व्यक्ति, वस्तु, स्थिति या घटना का संयोग हुआ है, उसके प्रति मन में द्वेष-दुर्भाव जाग रहा है। इस अप्रिय को दूर करने की तीव्र कामना जाग रही है, यही मुझे भीतर तक इतना व्याकुल बना रही है। और यह द्वेष इसलिए जाग रहा है कि जिसे प्रिय मानता हूं ऐसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या स्थिति को प्राप्त करने के लिए मन में गहरा राग है। परंतु मनचाही तो मिली नहीं। इस के विपरीत अनचाही का सामना हुआ तो द्वेष तीव्र हुआ और व्याकुलता बढ़ी। बात समझ में आती है कि जब तक मानस राग के विकारों से जकड़ा है, तब तक द्वेष के विकारों से भी जकड़ा ही रहेगा। और जब तक यह राग और द्वेष की जकड़न वाला स्वभाव कायम है, तब तक दुखी ही रहेगा। इस प्रकार बहुत सही-सही दिशा में चिंतन-मनन चलने लगता है।

परंतु केवल ऐसा चिंतन कर के रह जाय तो औषधि का चिंतन-मात्र हुआ, औषधि का सेवन नहीं। राग-द्वेष को दूर करना है, यह स्वीकारना-मात्र पर्याप्त नहीं। राग-द्वेष के स्वभाव को वस्तुतः दूर करें तो ही उपचार हो, तो ही दुख से सचमुच छुटकारा हो। इसके लिए कोशिश करता है पर सफल नहीं होता। बार-बार अप्रिय के संयोग के दुख से द्वेष आवलित होता है, प्रिय के संयोग के सुख के लिए राग तीव्र होता है। वह घबरा उठता है। मन में दुर्बलता जागती है। मेरे जैसा दुर्बल प्राणी अपने बल-बूते पर संसार के दुखों से मुक्त नहीं हो सकता; कोई अन्य मुझे भले मुक्त कर दे। तो किसी सर्वशक्तिमान की कल्पना करता है, उससे याचना करता है, प्रार्थना करता है– हे प्रभो! मुझे दुखों से उबार लो!

बार-बार लोगों से सुनते-सुनते यह अंधविश्वास दृढ़ हुआ है कि उस सर्वशक्तिमान को याद करने से, उसका ध्यान करने से, उसका नाम जपने से वह अवश्य दुख दूर कर देगा। फिर चिंतन गलत दिशा की ओर मोड़ लेने लगा। सही ढंग से सोच भी नहीं पाता कि यह कैसा सर्वशक्तिमान है भला! निर्बल भयभीत मानव का कल्पनाजन्य मानसपुत्र! नहीं समझता कि यदि सचमुच कोई सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर है भी तो मैं उसका कितना अपमान कर रहा हूं! कैसा अवमूल्यन कर दिया है बेचारे का? वह यदि सर्वज्ञ है तो जानता है कि संसार के सारे प्राणी दुखियारे हैं, व्याकुल हैं। सर्वशक्तिमान है तो सब को दुख से तार सकता है। पर तारेगा उसी को जो उस के रूप का ध्यान करेगा, उस के नाम का उच्चारण करेगा, जाप करेगा! अरे, कैसा अहंकार का पुतला है यह काल्पनिक ईश्वर? जिसमें करुणा का नामोनिशान नहीं। जिसे केवल अपने रूप का ध्यान किया जाना ही प्यारा लगता है, जिसे बार-बार अपना नाम सुनना ही प्यारा

लगता है। जो उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा, प्रशस्ति करे, खुशामदें करे, बस उसे ही उबारे! क्या सचमुच ऐसा ही है ईश्वर? यदि कोई ईश्वर है भी तो बेचारे की कैसी दुर्गति की है, मिट्टीपलीद की है इस अंधभक्ति ने!

पर दुर्बल दुखियारा मानव इस दिशा में सोच भी नहीं सकता। कितनी ही झूठी क्यों न हो पर उसे यही मान्यता प्रिय लगती है कि ऐसा कोई ईश्वर अवश्य है जिसके रूप का ध्यान करने से अथवा जिस के नाम का जाप करने से वह दुख से छुटकारा दिला देता है। अतः यही करना शुरू करता है।

उस के रूप का ध्यान करता है। कैसा है उसका रूप? किसी चित्रकार ने उस के रूप की कल्पना की। अपनी कूंची और रंगों की सहायता से उसका एक मनोहर चित्र तैयार किया। बार-बार देखा है उस चित्र को। किसी मूर्तिकार ने उस के रूप की कल्पना की; अपनी छेनी और हथौड़े से उसकी एक सुंदर मूरत तैयार की। बार-बार देखा है उस मूरत को। किसी शब्द-शिल्पी साहित्यकार ने उस के रूप की कल्पना की; उसका एक बहुत आकर्षक शब्द चित्र तैयार किया। बार-बार पढ़ा है उसे। न कल्पना करने वाले उस चित्रकार ने कभी ईश्वर को देखा है, न मूर्तिकार ने, न साहित्यकार ने। ऐसे कल्पनाजन्य रूप का जब कोई अपनी कल्पना के ही आधार पर ध्यान करेगा तो सच्चाई से बहुत दूर ही रहेगा। परंतु वह काल्पनिक रूप प्रिय लगता है क्योंकि ऐसे काल्पनिक ईश्वर के रूप का ध्यान करना आसान हो जाता है। मन टिकने लगता है उस रूप पर।

इसी प्रकार अपने आशा के केंद्र उस काल्पनिक ईश्वर के नाम का जप करना शुरू करता है। किसी भी शब्द को बार-बार दुहराता चला जाय तो उसकी एक तरंग तैयार होती है। कृत्रिम, बनावटी तरंग जिससे शरीर और मानस तरंगित हो उठते हैं। क्योंकि उस ईश्वर के प्रति बहुत भक्ति है, श्रद्धा है और उसका नाम जपने से अपने मकसद की पूर्ति हो जाने का लोभ है, अतः बड़े उत्साह से नाम जपता है और बार-बार नाम जपते-जपते जो तरंगें पैदा हुइऱ् उनमें मन समाहित होने लगता है, डूबने लगता है।

रूप के ध्यान का अथवा नाम के जप का अपना एक लाभ है। मन दुखद स्थिति से पलायन कर गया। काल्पनिक परंतु प्रिय आलंबन में, कृत्रिम परंतु प्रिय तरंगों में देर तक डूबने लगा। तो यूं लगा जैसे दुख दूर हुआ। पर दुख की जड़ें तो नहीं ही निकलीं। जड़ों तक विकारों से विमुक्ति तो नहीं ही मिली।

दुःख की जड़ें निकालनी हैं तो दुख की जड़ों तक पहुँचना होगा। विकारों की जड़ों तक पहुँचना होगा और उन्हें उखाड़ना होगा। दुखसत्य की वास्तविक जड़ों को जानने के लिए सत्य का ही अनुसंधान करना होगा। कल्पनाओं से काम

नहीं चलेगा। दुख भीतर होता है, अतः इसका अनुसंधान भी भीतर ही करना होगा। बाहर के सभी आलंबन प्रकट रूप में दुख का कारण लगते हैं। परंतु साधक अनुसंधान करेगा तो देखेगा कि हमारे लिए उनका अस्तित्व तभी है जब शरीर की इंद्रियों के दरवाजों से याने आंख, नाक, कान, जीभ अथवा त्वचा से उनका संपर्क होता है, तो ही उनकी विद्यमानता हमारे लिए अस्तित्व रखती है अन्यथा नहीं। अथवा मन के दरवाजे पर जब उनका चिंतन चलता है, वह भी शरीर के भीतर ही चलता है। सभी बाहरी आलंबनों का आधार छोड़ कर सत्य की खोज शरीर के भीतर वास्तविकता के आधार पर करनी होगी। खोज सत्य की करनी है, अतः सत्यान्वेषी साधक सभी काल्पनिक और कृत्रिम आलंबनों को त्यागेगा, भले वे कितने ही प्रिय क्यों न लगें, कितने ही अपनी परंपरागत मान्यताओं पर आधारित क्यों न हों! जो-जो सत्य स्वानुभूति पर उतरता जाय उसे ही स्वीकारता हुआ और उसे एक शोध-वैज्ञानिक की तरह तटस्थभाव से देखता हुआ अनुसंधान शुरू करेगा तो कुदरत अपने सारे रहस्य स्वतः उद्घाटित करने लगेगी। ऋत प्रकट होने लगेगा। ऋतंभरा प्रज्ञा जागने लगेगी। अपने दुखों के कारण का सारा प्रपंच स्पष्ट होने लगेगा और इन कारणों के निवारण का उपाय भी स्पष्ट होने लगेगा। भीतर अनुसंधान करते-करते ही इन कारणों याने विकारों का सहजभाव से निर्मूलन भी होने लगेगा। यह सब अभ्यांतरिक अनुभूतियों के आधार पर होगा। स्वयं वेदन के आधार पर होगा। संवेदनाओं के आधार पर होगा।

सत्यान्वेषी साधक दुखद संवेदनाओं को साक्षीभाव से देखते-देखते, उनका विघटन-विश्लेषण करते-करते, उनके अनित्य-स्वभाव को समझते-समझते द्वेष के चिर-संचित संस्कारों का उन्मूलन कर लेगा। सुखद संवेदनाओं को साक्षीभाव से देखते-देखते, उनका विघटन-विश्लेषण करते-करते, उनके अनित्य स्वभाव को समझते-समझते राग के चिर-संचित संस्कारों का उन्मूलन कर लेगा। अंतर्मन की गहराइयों में जितने विकार दबा रखे हैं, वे सभी राग-द्वेष-मोह पर ही आधारित हैं। अतः सभी विकारों का उन्मूलन कर लेगा तो परिणामस्वरूप उससे उत्पन्न होने वाले दुखों का उन्मूलन कर लेगा। भीतर ही भीतर स्थूल से सूक्ष्मतम अवस्थाओं तक शरीर-स्कंध और चित्त-स्कंध के सारे अनित्य प्रपंच का अन्वेषण करते-करते, विकारों से विमुक्त होते-होते अंततः उस इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार कर लेगा जो शरीर और चित्त के परे है, नाम-रूप के परे है; नित्य, शाश्वत, ध्रुव है, अमृत है। उस अवस्था तक पहुँचने वाला साधक स्थितप्रज्ञ होगा, अनासक्त होगा और बाह्य-जीवन में सुखद-दुखद, मनचाही या अनचाही जैसी भी परिस्थिति सामने आयेगी, उससे मन का संतुलन नहीं खोयेगा, मन की

समता बनाए रखेगा। इस प्रकार सही माने में दुख-विमुक्ति का सुखी जीवन जियेगा। इस अवस्था तक पहुँचने के मार्ग पर जितना-जितना आगे बढ़ता जीयेगा, उतना-उतना विकार-मुक्त होता जायेगा।

इसीलिए आओ, अंतर्मुखी हो कर किसी भी काल्पनिक अथवा कृत्रिम आलंबन का सहारा न लेकर यथार्थ, नैसर्गिक संवेदनाओं की अनुभूतियों के सहारे-सहारे सत्य-अनुसंधान करते हुए विकार-विमुक्ति के मार्ग पर बढ़ते चलें और सही माने में अपना कल्याण साध लें!

(८)

कोई व्यक्ति दुखी-व्याकुल होता है और नासमझ है तो अपने दुख के कारण बाहर देखता है; बाहर के व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, घटना आदि। परंतु यदि समझदार है तो कारण भीतर देखता है और पाता है कि मैंने अपने मन की निर्मलता खो दी। मन में विकार जगाया, इसलिए व्याकुल हुआ। क्रोध, कोप, द्वेष, दुर्भावना, दौर्मनस्य आदि। वह यह भी समझता है कि यह इसलिए हुआ कि बाहर की कोई बात अनचाही हो गयी अथवा मनचाही नहीं हुई, इसलिए मन मैला कर लिया। वह यदि अधिक समझदार है तो यह समझते देर नहीं लगती कि अनचाही की वजह से क्रोध, द्वेष आदि इसलिए जागे क्योंकि मनचाही के प्रति बहुत राग, तृष्णा, आसक्ति है; और यह भी समझेगा कि मनचाही के प्रति आसक्ति इसलिए है कि **मैं** के प्रति, **अहं** के प्रति बहुत गहरा राग है, गहरी आसक्ति है। यह अहंभाव ही है जिसके प्रति जागी हुई आसक्ति इतनी व्याकुलता पैदा करती रहती है। अत्यंत समझदार होगा तो समझेगा कि इस दुःख-सर्जिनी समस्या के सही समाधान के लिए अहं की खोज में लग जाए।

अहं की खोज भीतर करनी होती है। केवल श्रद्धाजनक मान्यताओं के आधार पर नहीं, केवल चिंतन-मननजन्य ऊहापोह के आधार पर नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर इस **मैं** की खोज साधक शुरू करता है। आरंभ में स्थूल-स्थूल आलंबन के सहारे काम शुरू करेगा। यह घनीभूत स्थूल काया और इसका अनुभव करने के लिए काया पर होने वाली घनीभूत स्थूल-स्थूल संवेदनाएं – पीड़ा, भारीपन, तनाव, दबाव, गर्मी, पसीना आदि। धीरज के साथ साक्षीभाव से सारे शरीर में इनका निरीक्षण करता जाए तो इनसे भी सूक्ष्म सच्चाइयां स्वतः प्रकट होने लगेंगी। शरीर-स्कंध का घनत्व टूटता जायगा। सूक्ष्मतर संवेदनाओं का अनुभव होने लगेगा; जैसे झनझनाहट, सुरसुराहट, तरंगें, पुलक रोमांच, प्रवाह आदि।

इसी प्रकार ज्यों-ज्यों चित्त का और चित्त पर होने वाली चित्तवृत्तियों का निरीक्षण करेगा तो देखेगा कि इन दोनों का शरीर और शरीर पर होने वाली संवेदनाओं से गहरा संबंध है। घनीभूत चैतसिक भावावेशीय विकारों का घनीभूत शारीरिक संवेदनाओं से और स्थूल विचार-तरंगों का सूक्ष्म शारीरिक संवेदनाओं से, दुखद मनोभावनाओं का दुखद शारीरिक संवेदनाओं से और सुखद मनोभावनाओं का सुखद शारीरिक संवेदनाओं से गहरा संबंध है।

शरीर, चित्त और चित्तवृत्तियों का वेदनाओं के आधार पर प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते-करते अंतर्तम तक सच्चाई समझ में आने लगती है। देखता है कि इस मिथ्या अहं याने अस्मिता का भाव किस प्रकार गहराइयों तक छाया हुआ है। जो इस अहं को अप्रिय लगता है उसको दूर करने की चेष्टा वाला द्वेष, जो प्रिय लगता है उसे पाने और पा जाय तो समेटे रखने की चेष्टा वाला राग, यह अंतर्मानस का अभिन्न अटूट स्वभाव बन गया है। संवेदनाओं के दर्शन से यह सत्य बहुत स्पष्ट होता जायगा।

गहरी नींद की अवस्था में भी किसी मच्छर ने काटा। अप्रिय संवेदना हुई। तुरंत द्वेष की प्रतिक्रिया की। उसे उड़ा दिया अथवा मार दिया और दंश के स्थान को खुजलाकर अप्रिय संवेदना दूर कर ली। गहरी नींद में ही चित्त लेटा है अथवा किसी एक करवट पर लेटा है और शरीर के दबाव से कहीं कोई अप्रिय संवेदना प्रकट हुई कि तुरंत प्रतिक्रिया की। उसे दूर करने के लिए करवट बदली। फिर कुछ देर बाद बदली हुई करवट पर भी दबाव की अप्रिय संवेदना प्रकट हुई, फिर करवट बदली। और न जाने यों कितनी बार करवटें बदलता ही रहा। प्रातः मौसम की वजह से शरीर पर शीत की संवेदना हुई, उसे दूर करने के लिए पांव के पास पड़ी चादर या कंबल ओढ़ ली। यह सारी हरकतें प्रसुप्त अवस्था में होती ही रहती हैं।

ऐसे ही जागृत अवस्था में भी। बैठे-बैठे शरीर में कहीं दबाव की संवेदना हुई कि आसन बदला, शरीर हिलाया। कहीं खुजली जागी कि तुरंत खुजलाया। आंखें शुष्क हुइऱ् कि तुरंत पलक झपक कर गीली कर ली। यह सब चलता ही रहता है। अपने आलंबनों में मशगूल रहने वाला मानस का ऊपरी ऊपरी हिस्सा यह जानता भी नहीं कि भीतर ही भीतर किस प्रकार प्रिय के प्रति राग, अप्रिय के प्रति द्वेष की प्रतिक्रिया का क्रम अबाध गति से चलता रहता है। संवेदना के आधार पर की गयी विपश्यना इस अंधेरे को दूर

करती है। मानस के इस स्वभाव को देखते-देखते अनेक सच्चाइयां उजागर होने लगती हैं। एक तो यह कि सारा शरीर स्कंध, सारे चित्त स्कंध, सारे चैतसिक स्कंध उत्पाद स्वभाव वाले हैं और जो उत्पाद स्वभाव वाला है वह व्यय स्वभाव वाला भी है ही। यह भौतिक शरीर स्थूल घनीभूत लगने वाला भी और विघटित होते-होते सूक्ष्म परमाणुओं का पुंज भी, उदय-व्यय स्वभाव वाला ही है। ऐसे ही यह चित्त स्कंध – विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार (जानने, पहचानने, संवेदनशील होने और प्रतिक्रिया करने वाले) स्कंध उत्पाद-व्यय स्वभाव वाले ही हैं। यों ही चित्तवृत्तियां भी। इनमें से कौन-सा 'मैं' है? किसे 'मैं' मानूं? कुछ समय के लिए एक भ्रम चलता है कि यह जो विज्ञान है जो जानने का काम करता है, यह अवश्य नित्य, शाश्वत है और यही 'मैं' हूं। पर अन्वेषण, अनुसंधान करते-करते यह भ्रम भी दूर होता है। देखता है कि श्रुत-विज्ञान उत्पाद स्वभाव वाला है। इसका उत्पाद तभी होता है जब कि कान और शब्द दोनों विद्यमान हों। दोनों ही न हों, अथवा दो में से एक का भी अभाव हो तो श्रुत-विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार चक्षु-विज्ञान की उत्पत्ति आंख और रूप के होने पर, घ्राण-विज्ञान की नाक और गंध के होने पर, जिह्वा-विज्ञान की जिह्वा और रस के होने पर, शरीर-विज्ञान की शरीर और स्पृष्टव्य पदार्थ के होने पर, और मनोविज्ञान की मन और मन के विषय चिंतन आदि के होने पर निर्भर करती है। सभी विज्ञान कारणों से ही उत्पन्न और कारणों के न रहने से निरुद्ध हो जाते हैं। सभी उत्पाद-व्यय स्वभाव वाले हैं। सभी अनित्य-धर्मा हैं।

इस प्रकार साधक इन संवेदनाओं के आधार पर स्वानुभूतियों द्वारा समझता है कि जो कुछ भी उत्पन्न होने वाला है, वह अनित्यधर्मा ही है। साधक को यह सत्य स्पष्ट होता है कि **सब्बे सङ्खारा अनिच्चा**।

जो अनित्य है, वह वास्तविक सुख देने वाला कदापि नहीं हो सकता। उससे उत्पन्न सामयिक सुख भंगुर है। अतः उसके नष्ट होने पर दुख ही जागता है। यों स्वानुभूतियों से यह बात खूब समझ में आती है कि **सब्बे सङ्खारा दुक्खा**।

जो अनित्य है, प्रतिक्षण बदल रहा है, जिसमें शीघ्र गति से उत्पाद-व्यय का क्रम चल रहा है, जिस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, वह शरीर, वह चित्त, वह चैतसिक क्या **मैं** हूं? तो समझ में आता है कि

व्यवहार-जगत के लिए भले **मैं** है, परंतु वस्तुतः **मैं** नहीं है। शरीर और चित्त के सारे धर्म **मैं** नहीं, **मेरे** नहीं, मेरी **आत्मा** नहीं है – **सब्बे धम्मा अनत्ता**।

यह महज दार्शनिक मान्यता की बात नहीं रह जाती। साधक अनुभूतियों के स्तर पर शरीर और चित्त के सारे क्षेत्र का अनुसंधान करता चलता है। इसमें कहीं कुछ **मैं** कहने योग्य नहीं है। इस सच्चाई को अनुभवजन्य प्रज्ञा से जानने लगता है तो अज्ञान दूर होता है, भ्रम भ्रांति दूर होती है, विकार नष्ट होते हैं, मिथ्या अस्मिताभाव पिघलता है और एक अवस्था आती है जब कि शरीर और चित्त के क्षेत्र का अतिक्रमण हो जाता है और उसके परे की इंद्रियातीत अनुभूति होती है। इंद्रियों के क्षेत्र की अनुभूति में तो यही जाना कि सब अनित्य है, दुख है। परंतु इंद्रियातीत का अनुभव होता है तो स्पष्ट होता है कि यह जो इंद्रियों के परे की अवस्था है, शरीर, चित्त और चित्तवृत्तियों की अवस्था से सर्वथा भिन्न है, विपरीत है। यह अनित्य नहीं, नित्य है। परिवर्तनशील नहीं, स्थिर है। अशाश्वत नहीं, शाश्वत है। उत्पादधर्मा नहीं, अजन्मा है। व्ययधर्मा नहीं, अव्यय है। विनाशधर्मा नहीं, अविनाशी है। क्षयधर्मा नहीं, अक्षय है। मरणधर्मा नहीं, अमृत है। यह दुख नहीं, परम सुख है। **निब्बानं परमं सुखं**।

परंतु अनात्मधर्मा तो यह भी है ही। इस अनंत एकरस अवस्था में भी **मैं** कहने जैसा कुछ नहीं मिलता। यह शरीर और चित्तवृत्तियों के परे की अवस्था भी अहंभाव से शून्य है। इसका धर्म स्वभाव भी अनात्म ही है। यह **मैं** नहीं, **मेरा** नहीं, **मेरी आत्मा** नहीं। यह ससीम नहीं, असीम है। सांत नहीं, अनंत है। इसकी कोई परिधि नहीं। तब पूरी तरह समझ में आ जाता है कि इंद्रियों के इस ओर व उस ओर – **सब्बे धम्मा अनत्ता** ही है। यों अहंभाव, अस्मिताभाव पूर्णतया पिघल जाता है तो मुक्त हो जाता है।

आओ, बुद्धि-विलासीय दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल से छुटकारा पाकर इन संवेदनाओं के आधार पर समग्र शरीर और चित्त तथा चित्तवृत्तियों के अनित्यधर्मा क्षेत्र का, स्थूल से सूक्ष्म तक का स्वयं अनुसंधान करके इनके परे की नित्यधर्मा मुक्त अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर लें और अपना मंगल साध लें, कल्याण साध लें!

(९)

आंख से रूप दिखता है और मानस का एक खंड उसे अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय मान कर सुखद या दुखद संवेदनाएं जगाते हुए उसके प्रति राग या द्वेष पैदा करने लगता है। जितनी देर आंख से वह रूप देखता रहता है, मानस उतनी देर उसी आलंबन में विचरण करता हुआ राग व द्वेष का प्रजनन करता रहता है। नए-नए कर्म-संस्कार बनाता रहता है। इन्हें ही दोहराते-दोहराते इनको पत्थर पर खिंची हुई लकीर की तरह गहरा बनाता रहता है। ठीक यही करता है जबकि कानों से कोई शब्द सुना जाता है अथवा नाक से कोई गंध सूंघी जाती है, अथवा जीभ से कोई रस चखा जाता है, अथवा त्वचा से कोई स्पृष्टव्य पदार्थ का स्पर्श होता है। जब इन पांचों इंद्रिय द्वारों में से किसी पर भी तत्संबंधित विषय का संपर्क नहीं होता तो मन की इंद्रिय अपना काम करने लगती है। ऐसे रूप, शब्द, गंध, रस अथवा स्पृष्टव्य पदार्थ पहले कभी संपर्क में आये थे, उनकी याद मन में जागती है और उन्हीं के सहारे मन देर तक भूतकाल में रमण करने लगता है; अथवा ऐसे ही विषयों का संपर्क भविष्य में हो या न हो इस पर चिंतन चलने लगता है तो इनके सहारे मन देर तक भविष्य में रमण करने लगता है। यह चिंतन प्रिय लगता है तो राग जगाता है, अप्रिय लगता है तो द्वेष। यों नए-नए कर्म-संस्कार बनने लगते हैं और बार-बार दोहराए जाने के कारण पत्थर पर खिंची लकीर की तरह गहरे बन जाते हैं। वे ही उपादान बन कर कालांतर में नए-नए भव के कारण बनते हैं और दुखों के ढेर पैदा करते हैं। छहों इंद्रियों के द्वारों पर राग-द्वेष की इन प्रतिक्रियाओं के कारण वर्तमान भी दुखमय, भविष्य भी दुखमय। राग-द्वेष के संस्कारों के जो बीज इस समय बोता है, वे भी दुखदायी और समय पाकर जब उनके फल पकते हैं, वे भी दुखदायी। वर्तमान भी अंधकारमय, भविष्य भी अंधकारमय।

और यह क्रम रात-दिन जीवन-पर्यंत चलता ही रहता है। दुख ही दुःख, अंधकार ही अंधकार का सृजन होता रहता है। यह सब इसलिए होता है कि मन शिक्षित नहीं है, विकसित नहीं है। मन का ऊपरी-ऊपरी हिस्सा जिसे पुरानी भाषा में परित्त चित्त याने सीमित चित्त कहा गया, जिसे आज की पश्चिमी भाषा में 'कांशस माइंड' कहें, चेतन चित्त कहें जो संपूर्ण मानस का बहुत छोटा हिस्सा है, वह यह जानता ही नहीं कि अपने भीतर ही भीतर गहराइयों तक क्या गुजर रही है? इंद्रिय द्वारों पर बाहरी आलंबनों के सीधे

संपर्क में आने के कारण अथवा मानस के इस ऊपरी हिस्से पर इनका चिंतन-मनन होने के कारण यह परित्त चित्त इन्हीं विषयों में लोट-पलोट लगाता रहता है। इन्हीं में मशगूल, व्यस्त रहता है। मानस के बाकी हिस्से में, जो कि बहुत बड़ा हिस्सा है, क्या हो रहा है, उस ओर ध्यान ही नहीं देता। पश्चिमी भाषा में कहें तो यह चेतन चित्त (कांशस माइंड) अपने भीतर के अवचेतन, अचेतन, (सबकांशस, अनकांशस) में क्या बीत रही है, वहां क्या घटना घट रही है, इस ओर ध्यान ही नहीं देता। इस ओर ध्यान देने के लिए अपने भौतिक शरीर में ध्यान देना होगा। क्योंकि मानस का वह जो बहुत बड़ा हिस्सा है, सतत शरीर से और उसमें होने वाली संवेदनाओं से जुड़ा रहता है और उनके प्रति अंध प्रतिक्रिया करने में निमग्न रहता है। वह इन संवेदनाओं के प्रति सतत सचेत रहता है, इसीलिए अपने यहां इसके लिए अर्धचेतन शब्द नहीं इस्तेमाल हुए। मानस के इन खंडों के लिए आज की सामान्य जन-भाषा के किसी और शब्दों का प्रयोग करें तो शायद अधिक ठीक होगा। जिसे पहले **परित्त चित्त** कहा गया, जिसे पश्चिम वाले 'कांशस माइंड' कहते हैं, उसे हम **बाह्य चित्त** कहें और जिसे अपरिमित, **महग्गतचित्त** कहा गया और जिसे पश्चिमी भाषा वाले 'सबकांशस' और 'अनकांशस माइंड' कहते हैं, उसे हम **अंतर्चित्त** कहें तो शायद अधिक स्पष्ट होगा।

बाह्य और अंतर्चित्त के बीच दीवारें खड़ी रहती हैं; यानी बाह्य चित्त को पता ही नहीं रहता कि अंतर्चित्त में क्या बीत रही है। विपश्यना इस दीवार को तोड़ती है। बाह्य चित्त सामान्यतया काया और काया पर सतत होने वाली संवेदना की ओर ध्यान नहीं देता। विपश्यना द्वारा उसे यही करना सिखाया जाता है। विपश्यना की भाषा में इसी को **सति** और **सम्पजञ्ञ** कहते हैं। **सति** याने जागरूकता और **सम्पजञ्ञ** (संपजन्य) यानी शरीर पर होने वाली इन संवेदनाओं का और उनके अनित्य स्वभाव का निरीक्षण करते हुए समता में स्थित रहना।

यों करने से समग्र चित्त का स्वभाव पलटने लगता है। बाह्य चित्त, जो सदा बाहरी-बाहरी आलंबनों में उलझा रहता था, अब साथ-साथ भीतर की ओर भी झांकने लगता है और शरीर पर होने वाली संवेदनाओं के प्रति सजग रहने लगता है– मानो अपनी जड़ों से जुड़ने लगता है। अंतर्चित्त जो इन शारीरिक संवेदनाओं के प्रति सजग तो रहता था पर उनके प्रति सतत अंध प्रतिक्रिया करने का स्वभाव बनाये बैठा था और बाह्य चित्त पर स्थापित

बुद्धि की कोई बात कितनी ही अच्छी क्यों न हो, सुनने को तैयार नहीं था, अब साधना द्वारा बुद्धि की ही नहीं स्वानुभूतिजन्य प्रज्ञा की भी बात सुनने लगता है। सारा शरीर-प्रपंच और इसी प्रकार सारा चित्त-प्रपंच कितना नश्वर है, भंगुर है, इसे अनुभूतिजन्य प्रज्ञा से जानता हुआ उसके प्रति राग और द्वेष की प्रतिक्रिया न कर समता में स्थित रहने लगता है। यों विपश्यना की कल्याणकारिणी विद्या के अभ्यास द्वारा साधक अपने ऊपरी-ऊपरी चित्त के विकारों को ही नहीं धो लेता, बल्कि अंतर्मन की गहराइयों तक, जो न जाने कब से संचित, संगृहीत, सुषुप्त विकार हैं, उन्हें भी उन्मूलित कर लेता है। संपूर्ण मानस को प्रज्ञा के बल पर विकार-विमुक्त कर लेता है। और यह सब होता है शरीर पर होने वाली सतत सुखद, दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं को विपश्यी भाव से देखते-देखते।

विधि की सार्थकता परिणामों से ही मापी जा सकती है, कोरे सिद्धांतों से नहीं। शरीर पर होने वाली संवेदनाओं के प्रति अनित्य बोध के आधार पर समता से स्थित रहने का अभ्यास करने वाला विपश्यी साधक स्वानुभूतियों से देखता है कि किस प्रकार सदा विकार-विकृत रहने वाला उसका मानस अब शनैः-शनैः बदलता जा रहा है। राग, द्वेष कम होते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप भय, वासना, असंतोष, चिंताएं, कुंठाएं, व्याकुलताएं आदि कम होती जा रही हैं और ये इसलिए हो रही हैं कि मानस का इतना बड़ा हिस्सा जो अपने अंधे स्वभाव का गुलाम था, अब उससे मुक्त हो रहा है। मोह-मूढ़ता के कारण संवेदनाओं के प्रति प्रतिक्रिया करते रहने की ही गुलामी थी। अब इन्हीं के प्रति सजगता और समता का अभ्यास गुलामी की इन जंजीरों को तोड़ता है।

कभी-कभी सांप्रदायिक दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल में उलझा हुआ कोई व्यक्ति यह संदेह प्रकट करता है कि इस नश्वर शरीर और इस पर होने वाली नश्वर संवेदनाओं के दर्शन से किसी को क्या मिलेगा भला? दर्शन तो नित्य, शाश्वत, ध्रुव का करना चाहिए।

परंतु विपश्यी साधक इस बात को खूब समझता है कि इस नश्वर शरीर और इस पर होने वाली नश्वर संवेदनाओं का दर्शन यदि राग-रंजित अथवा द्वेष-दूषित अथवा मोह-विमूढ़ित होकर करे तो सचमुच अपने दुःख-बंधन का संवर्धन ही होता है। परंतु विपश्यना तो साधारण व्यक्ति के लिए इसी स्वभाव को बदलना सिखाती है। विपश्यना द्वारा अंधा अंतर्मन राग

और द्वेष की प्रतिक्रिया करने वाले स्वभाव से मुक्त हो तो दर्शन सम्यक होता है याने राग, द्वेष, मोह-विहीन होता है तो कर्मों के क्लेश-कषाय कटते हैं। चित्त नये विकार बनाना बंद करता है। परिणामस्वरूप पुरानों का क्षय हो जाता है और तभी वह अवस्था सहज भाव से आ जाती है जब इंद्रियातीत, नित्य, शाश्वत, ध्रुव का साक्षात्कार हो जाता है। नाम-रूप का, शरीर और चित्त का, संवेदनाओं का, इंद्रिय क्षेत्र का विपश्यनामय दर्शन इसलिए किया जाता है कि इन क्षेत्रों से जो चिपकाव हो गया है वह टूटे और इन क्षेत्रों का अतिक्रमण करके इससे परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमृत का साक्षात्कार हो सके। भय, दुखों से नितांत विमुक्ति मिल सके।

आओ, यही करें! संवेदनाओं को विपश्यनाभाव से देखते-देखते उनके अनित्य स्वभाव को समझते-समझते विकार-विमुक्त होयें और इस अनित्य क्षेत्र के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव का साक्षात्कार करें। इसी में हमारा मंगल समाया हुआ है।

(१०)

स्रव कहते हैं बहने को। आस्रव का अर्थ हुआ बहाव। नासूर में से जो द्रव सतत बहता रहता है, उसे आस्रव कहते हैं। चित्तधारा में विकारों की जो गंदगी बहती है, वह भी नासूर के फोड़े की पीब जैसी ही है। इसीलिए आस्रव कहलाती है। मन मैला हो तो उसमें आस्रव बहता है। आस्रव बहता है तो मन और मैला होता है। मैला मन दुखी होता है। अतः सास्रव व्यक्ति दुखी है। अनास्रव दुख-विमुक्त को कहते हैं।

आस्रव हमें दुःखी बनाता है। तो भी हम बार-बार मन में आस्रवों का प्रजनन करते रहते हैं और दुःखी होते रहते हैं। मानो आस्रव जगाने और दुःखी रहने का हमें एक व्यसन लग गया। मानो हम पर आस्रव का एक नशा छा गया। सचमुच आस्रवों का अपना एक नशा ही होता है, इसीलिए नशीले पदार्थ के अर्थ में भी आस्रव शब्द का प्रयोग होता है। काम-क्रोध आदि विकारों का कितना गहरा नशा छा जाता है! बुद्धि के स्तर पर खूब समझते हैं– यह विकार हानिकारक हैं, दुःखजनक हैं, पर फिर भी उन्हें जगाते ही रहते हैं। चाहते हुए भी इनसे बाहर नहीं निकल पाते। यह नशा ही है। व्यसन ही है। बहुत गहरा व्यसन है। यह नशा, यह व्यसन मादक पदार्थों के नशे-व्यसन जैसा है, परंतु मात्रा में उससे अधिक गहरा है। शराबी हो या

गँजेड़ी-भँगेड़ी, अफीमची हो या चिलमची-चरसची, वह बेचारा अपने व्यसन से कितना व्याकुल रहता है। ऐसी ही व्याकुलता मनोविकारों के नशेबाज किसी सास्रव की होती है। मादक पदार्थों का कोई-कोई नशेबाज अपने मनोबल से कदाचित इस व्यसन से मुक्त भी हो जाय परंतु इन मानसिक आस्रवों का नशेबाज इस व्यसन से मुक्त हो सके, यह अत्यंत कठिन काम है।

कोई व्यक्ति एक वैज्ञानिक की तरह कठोर परिश्रम करके अपनी समझदारी से सच्चाई का अनुसंधान करके अनास्रव होने का कोई मार्ग ढूंढ़ लेता है, कोई विधि ढूंढ़ लेता है और उसके द्वारा स्वयं अपने आप को अनास्रव बना लेता है। ऐसा ही व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, जीवन्मुक्त अरहंत कहलाता है। ऐसा मुक्त व्यक्ति अत्यंत करुणचित्त से आस्रवों में अनुरक्त दुखियारे लोगों को आस्रव-मुक्त होने के लिए वही मार्ग प्रदर्शित करता है, जिस पर चल कर वह स्वयं मुक्त हो सका। यही है वह विपश्यना विधि जिसे कोई अनास्रव लोककल्याण के लिए प्रकट करता है।

सारी अंध दार्शनिक मान्यताओं को एक ओर रख कर कोई व्यक्ति जब इस विपश्यना विधि का अभ्यास करना शुरू करता है तो एक शोध-वैज्ञानिक की तरह सत्य का अनुसंधान शुरू करता है। आजकल का सत्यान्वेषी वैज्ञानिक अधिकांशतः बाहर की ही किसी सच्चाई का अनुसंधान करता है और बाहर के ही किन्हीं उपकरणों के आधार पर करता है। परंतु अनास्रव होने की विपश्यना विधि का वैज्ञानिक अन्वेषक किसी बाहरी वस्तु का अनुसंधान करने की बजाय अपने भीतर की सच्चाई का अनुसंधान करता है। किन्हीं बाह्य उपकरणों के सहारे अनुसंधान करने की बजाय स्वयं अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति का सहारा ले कर अनुसंधान करता है।

अनुसंधान करने के लिए उसे अपने साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर शरीर और चित्त का मिला-जुला क्षेत्र प्राप्त होता है। अनुभूतिजन्य यथाभूत सच्चाइयों को देखते-देखते वह ऐसी अवस्था पर जा पहुँचता है जहां उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि जैसे ही चित्तधारा पर कोई विकार स्रवित हुआ, वैसे ही शरीर में भी कोई जीवरसायन (बायोकेमिकल) प्रतिक्रिया होने लगी, शरीर की रक्तवाहिनी धमनियों में कोई एक स्राव रक्तमिश्रित हो कर बहने लगा जिससे कि शरीर में कोई विशेष प्रकार की संवेदना होने लगी। साधक देखता है कि इस आस्रव से जो संवेदना प्रकट हुई वह मन के विकार

को बल प्रदान करती है और मन का विकार इस स्रव के बहाव को और उसके द्वारा जागी हुई इस संवेदना को बल प्रदान करने लगता है। यों यह अन्योन्याश्रित दुष्चक्र चल पड़ता है। इस प्रकार मन का विकार बढ़ता जाता है और हमें देर तक अपने शिकंजे में जकड़े रखता है। अपना गुलाम बनाए रखता है। उदाहरणस्वरूप, कामवासना का जो बहाव मन पर बहना शुरू हुआ, उसी ने भौतिक शरीर पर भी एक स्राव बहाया, जिसने बदले में कामवासना के स्वभाव को और पुष्ट करना शुरू किया। धीरे-धीरे मन इस कामास्रव के प्रति इस कदर आसक्त हो गया कि उसकी यह आसक्ति तोड़नी कठिन से कठिनतर होती चली गयी। ऐसा व्यक्ति कामास्रव का गुलाम हो गया। उसे कामास्रव का व्यसन लग गया। ठीक यही बात क्रोध, भय, अहंकार आदि अन्य विकारों की भी है। सामान्य व्यक्ति जानता ही नहीं कि मन पर जागा हुआ हर विकार शरीर पर एक जीवरसायनिक प्रतिक्रिया शुरू कर देता है जिससे उस विकार का संवर्धन होने लगता है। हर विकार चित्त की समता को नष्ट करता है। चित्त को व्याकुल बनाता है। उसकी व्याकुलता के उद्गम और संवर्धन के इस क्रम को वह समझता ही नहीं। परंतु यदि कोई व्यक्ति इस प्रपंच-प्रक्रिया को समझ भी ले और स्वीकार भी कर ले तो भी इस गिरफ्त के बाहर कैसे निकले?

विपश्यना इस प्रपंच की अनुभूतिजन्य जानकारी ही नहीं देती, प्रत्युत इस दुश्चक्र को तोड़ कर इसके बाहर निकलने की राह भी सुझाती है। शरीर पर प्रकट होने वाली संवेदनाएं ही इस कार्य में सहायक बनती हैं। यह वही जीवरासायनिक संवेदनाएं हैं जिनकी वजह से विकार और विकारजन्य व्याकुलता बढ़ा करती है। अब विपश्यना का होश जागने पर वही संवेदनाएं हमारे मनोविकार और तज्जन्य व्याकुलता को नष्ट करने का उपाय बन जाती हैं।

दुष्चक्र को तोड़ने के लिए विपश्यना हमारे शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखना सिखाती है। जहां पहले इन्हीं संवेदनाओं ने हमें आसक्त बना दिया था, उनके प्रति भोक्ताभाव प्रबल हो गया था, वहां अब इन्हीं संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखने का अभ्यास शुरू हो जाता है। सफलता-असफलता के उतार-चढ़ाव में से गुजरता हुआ साधक धीरे-धीरे संवेदनाओं की गिरफ्त को दुर्बल करने लगता है। पहले जिन संवेदनाओं के प्रति जागने वाले विकारों की गहरी प्रतिक्रिया मानस पर पत्थर की गहरी लकीर-सी बनाया करती थी, वही अब बालू की लकीर-सी बनाने लगी और

समय पा कर पानी की लकीर बना कर रह गयी। उनका प्रभाव क्षीण हो गया। साधक इस प्रकार उन आस्रवों की आसक्तियों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। विकार नहीं जागते तो आस्रव नहीं जागते। आस्रव नहीं जागते तो मोह-मूढ़ता का नशा नहीं जागता। निर्विकार हो जाता है तो अनास्रव हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है, सर्वथा दुखमुक्त हो जाता है।

हम देखते हैं कि किस प्रकार साधारण नशेबाजों के मदिरा और ब्राउनशूगर के नशे देर-सबेर विपश्यना द्वारा दूर हो जाते हैं। हर नशे की अपनी एक विशिष्ट शारीरिक संवेदना होती है। ऊपर-ऊपर से यों लगता है कि इस व्यक्ति को अमुक मादक पदार्थ का व्यसन है, परंतु वास्तविकता यह है कि उसे अमुक प्रकार की शारीरिक संवेदना का व्यसन है। उस व्यसन का शरीर की संवेदना से गहरा संबंध है। हर व्यक्ति जैसे-जैसे संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखने का आदी होता जाता है, वैसे-वैसे व्यसन की जकड़न ढीली पड़ती है और अंततः व्यसनमुक्त हो जाता है।

जैसे मादक पदार्थों का व्यसन वैसे ही काम, क्रोध, मोह आदि विकारों का व्यसन, उनसे उत्पन्न होने वाले आस्रवों का व्यसन, इन आस्रवों से उत्पन्न होने वाली शारीरिक संवेदनाओं का व्यसन। इन मनोविकारों के व्यसनों का शरीर की संवेदनाओं से गहरा संबंध है। विपश्यना के अभ्यास द्वारा संवेदना के अनित्य स्वभाव को स्वानुभूति द्वारा तटस्थभाव से देखते-देखते इन विकारों की जकड़न ढीली पड़ने लगती है और परिणामतः इन विकारों की पीड़ाओं से मुक्ति मिलने लगती है। इन विकारों से पूरा-पूरा मुक्त हो जाने का मार्ग लंबा है, कठिन है। पर असंभव नहीं, असाध्य नहीं। संतोषजनक बात यह है कि संवेदनाओं को देखते-देखते इन विकारों की जकड़न जितनी ढीली होती जाती है, साधक स्वयं देखता है कि वह उतना-उतना ही मुक्त हुआ जा रहा है; यानी संवेदनाओं को देखने का अभ्यास थोड़ा भी करे, तो थोड़ी ही दुखमुक्ति अनुभव करने लगता है। अभ्यास ज्यादा करे, ज्यादा बढ़ाए तो विकारों से होने वाली दुखों की विमुक्ति और अधिक होने लगती है। तब अपने अनुभवों से ही यह विश्वास जागता है कि इस रास्ते पर चलते-चलते एक दिन सारे विकारों से छुटकारा पा ही लेंगे। परंतु बड़ी निष्ठा से, लगन से, धैर्य से स्वयं परिश्रम-पुरुषार्थ करना होगा। किसी की कृपा से मुक्ति नहीं मिलती। किसी की कृपा इतनी ही बहुत है कि उसने स्वयं जान कर हमें रास्ता बता दिया। अब चलना तो हमारा काम है। जितना-जितना चलेंगे, उतना-उतना लाभान्वित होते ही जाएंगे।

आओ, दुख-विमुक्ति के इस कल्याणकारी मार्ग पर कदम-कदम चलते ही रहें और अपनी स्वस्ति-मुक्ति साध लें!

(११)

अभ्यांतरिक प्रपंच प्रक्रियाओं को बार-बार देखते-देखते विपश्यी साधक की भावनामयी प्रज्ञा पुष्ट होने लगती है। अब उसके लिए प्रज्ञा केवल श्रुतज्ञान या चिंतनज्ञान नहीं रह जाती। सत्य अनुभूति पर उतरता है तो ही प्रज्ञा भावनामयी प्रज्ञा कहलाती है। ऐसे व्यक्ति को प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा कुदरत का कानून याने प्रतीत्य-समुत्पाद याने कारण-कार्य संबंधी प्रकृति का नियम याने धर्म खूब समझ में आने लगता है। इसीलिए भावनामयी प्रज्ञा को चाहें तो ऋतंभरा प्रज्ञा भी कह सकते हैं। वह प्रज्ञा जो ऋत के ज्ञान से भरी हो। कुदरत के कानून का ज्ञान धारण किए हुए हो।

इस कल्याणकारी प्रज्ञा में साधक जैसे-जैसे पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे निकम्मी, निरर्थक तथा हानिकारक दार्शनिक मान्यताओं की जकड़न से, कर्मकांडों के चिपकाव से और संप्रदायवाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद के विष से स्वतः मुक्त होता जाता है। जिस सच्चाई को वह स्वयं अपने भीतर देखता है, वही सच्चाई उसे बाहर भी सर्वत्र दिखने लगती है। वह देखता है कि कुदरत का जो कानून, जो ऋत, जो प्रतीत्य-समुत्पाद का नियम उस पर लागू होता है, वही सब पर लागू होता है। जैसा भीतर वैसा बाहर, जैसा बाहर वैसा भीतर। नियम नियम है, विधान विधान है। सब के लिए एक समान है। कोई लगाव नहीं, कोई अलगाव नहीं। कोई रुझाव नहीं, कोई दुराव नहीं।

किसी निम्न स्तर के राज्य का संवैधानिक नियम किसी जातिविशेष या संप्रदायविशेष या देशविशेष के लोगों के लिए पक्षपातपूर्ण हो सकता है, परंतु किसी अच्छे राज्य का संवैधानिक नियम सब के लिए एक जैसा होता है। लेकिन नियम एक जैसा हो, तो भी उसके पालन में पक्षपात हो सकता है। परंतु विपश्यी साधक देखता है कि प्रकृति के नियम पक्षपात-विहीन हैं। वे किसी का लिहाज नहीं करते, किसी को नहीं बख्शते। जो तोड़े सो दंडित, जो पाले सो पुरस्कृत।

एक व्यक्ति अपने मन में क्रोध जगाता है, द्वेष-दुर्भावना जगाता है तो प्रकृति उसे तत्काल दंड देती है। मन में जागे हुए उस विकार के साथ-साथ

ही उसके शरीर में एक प्रकार का जीव-रासायनिक स्राव बहने लगता है जिससे शरीर में जो संवेदना होती है, वह उसे बहुत व्याकुल बना देती है। इस प्रक्रिया में कहीं कोई भूल नहीं होती। देर भी नहीं होती।

प्रकृति के इस नियम को न समझने के कारण एक नासमझ व्यक्ति उस स्रावजन्य दुखद संवेदना के उत्पन्न होने पर अपने मानसिक विकार बढ़ाने लगता है। उसके मानसिक विकार बढ़ने पर यह स्रावजन्य संवेदना बढ़ने लगती है। ऐसा व्यक्ति देर तक मनोविकार के बहाव में बहता रहता है और परिणामतः देर तक दुखियारा रहता है। जितनी देर विकारों का क्रम चलता रहता है, उतनी देर प्रकृति के विधान के अनुसार दुखी होने का दंड भुगतता ही रहता है। दंड देती हुई प्रकृति इस बात को नहीं देखती कि यह व्यक्ति किस जाति का है, किस संप्रदाय का है, किस वर्ण का है, किस देश-प्रदेश का है, कैसे कर्मकांड करता है, कौन-सी दार्शनिक मान्यताएं मानता है। कुदरत के बँधे-बँधाए नियम हैं। क्रोध जगाया कि तत्काल दंड मिला। जिस किसी ने जगाया, उसे ही दंड मिला।

इसी प्रकार प्रकृति का एक और नियम है। जब चित्त में सद्भावना जागती है तो प्रकृति की ओर से तत्क्षण पुरस्कार मिलता है। बड़ी सुख-शांति महसूस होती है।

विपश्यी साधक प्रकृति के इन नियमों को बखूबी जान लेता है। कोई भी व्यक्ति जो अपने भीतर यथार्थ को देखने का काम करेगा, इसे बखूबी जान ही लेगा। विपश्यना माने देखना ही होता है। जो देखे वह इस बात को समझ ही जायगा कि मन को द्वेष-दुर्भावना से मैला करने वाला व्यक्ति दुखी हो ही जाता है, क्योंकि अस्वस्थ हो जाता है। स्नेह-सद्भावना से मन को निर्मल करने वाला व्यक्ति सुखी हो ही जाता है, क्योंकि स्वस्थ हो जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान का यह सर्व-साधारण मूलभूत प्राकृतिक नियम है जो सब पर एक जैसा लागू होता है। यह ऐसा ही है जैसे शारीरिक स्वास्थ्य-विज्ञान के सर्वसाधारण मूलभूत नियम। जैसे गंदे आहार-विहार से कोई व्यक्ति रोगी हो जाता है और स्वच्छ आहार-विहार से स्वस्थ रहता है। जैसे शरीर-स्वास्थ्य के नियम किसी का पक्षपात नहीं करते, सब पर समानरूप से लागू होते हैं – हिंदू हो या बौद्ध, मुस्लिम हो या ईसाई, सिक्ख हो या पारसी, ब्राह्मण हो या शूद्र, बंगाली हो या बिहारी, हिन्दुस्तानी हो या

पाकिस्तानी, अफगानी हो या ईरानी, चीनी हो या जापानी– साधारण स्वास्थ्य के नियम सब पर एक जैसे लागू होते हैं। कहीं कोई पक्षपात नहीं होता। मन मैला करते ही व्यक्ति अस्वस्थ हो जायगा, व्याकुल हो जायगा और मन निर्मल करते ही स्वस्थ हो जायगा, सुखी हो जायगा।

कोई व्यक्ति बाहरी बनाव-ठनाव ऐसा रखता है या वैसा, प्रकृति का नियम उस पर लागू होगा ही। कोई दाढ़ी-मूंछ रखे या न रखे; कोई लंबे केश रखे या छोटे केश, या सारे केश कटवा ले; कोई इस रंग या इस आकार का वस्त्र पहने अथवा उस रंग या उस आकार का, इस बाहरी दिखावे के कारण प्रकृति उसे नहीं बख्शेगी। मन मैला करेगा तो अस्वस्थ होगा ही, दुखी होगा ही। मन निर्मल रखेगा तो स्वस्थ होगा ही, सुखी होगा ही।

इसी प्रकार इस या उस कर्मकांड को करने वाला हो अथवा इस या उस दार्शनिक मान्यता को मानने वाला हो, प्रकृति का नियम तो उसी प्रकार लागू होगा। मन मैला करेगा तो अस्वस्थ होगा ही, दुखी होगा ही। मन निर्मल करेगा तो स्वस्थ होगा ही, सुखी होगा ही।

मन में विकार जगाना और अस्वस्थ हो जाना, अथवा विकार न जगाना और स्वस्थ रहना किसी जाति-विशेष या वर्ण-विशेष, संप्रदाय-विशेष या किसी देशकालविशेष के व्यक्ति तक सीमित नहीं है। मन का विकारग्रस्त होकर अस्वस्थ हो जाना सर्वसाधारण का रोग है। उसे स्वच्छ करके स्वस्थ हो जाना सर्वसाधारण के लिए शक्य है, उपादेय है, क्योंकि यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक नियम है। जैसा बीज होगा वैसा फल होगा। जैसा कारण होगा, वैसा परिणाम होगा। प्रकृति का यह अटूट नियम है, यह कानून है। इसे ही धर्म कहते हैं। तभी कहा गया कि कारणों से उत्पन्न परिणाम को देखना, जानना धर्म को देखना जानना है। **यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति, सो धम्मं पस्सति। यो धम्मं पस्सति, सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति।**

धर्म को देखता-जानता है इसके माने यह नहीं कि बौद्ध धर्म या हिंदू धर्म या जैन धर्म को देखता जानता है, बल्कि सार्वजनीन धर्म को, ऋत को देखता जानता है।

विपश्यी साधक अपने भीतर इसी प्राकृतिक धर्म का दर्शन करता है। वह देखता है कैसे बाहरी विषय को प्रिय अप्रिय मानते ही शरीर में सुखद-दुखद संवेदना जागने लगती है। अस्वस्थ मन हो और कुदरत के इस कानून को न समझता हो तो इन्हीं संवेदनाओं के आधार पर प्रतिक्रिया करते

हुए अपनी अस्वस्थता बढ़ाने का काम करने लगता है। सुखद संवेदना हो तो उसके प्रति राग पैदा करने लगता है और अपनी समता खो देता है। दुखद संवेदना हो तो उसके प्रति द्वेष जगाने लगता है और अपनी समता खो देता है। ऐसा व्यक्ति सदा अपनी अस्वस्थता बढ़ाता रहता है, अपना दुख बढ़ाता रहता है।

विपश्यना द्वारा इस सच्चाई को देखते-देखते कोई व्यक्ति अंतर्मन के इस स्वभाव को पलटने का काम करता है। चाहे जिस कारण से, चाहे जैसी संवेदना प्रकट हुई हो, स्वानुभूति द्वारा उसके अनित्य स्वभाव को देखकर न राग जगाता है, न द्वेष जगाता है तो अस्वस्थ मन को स्वस्थ बनाने लगता है। दुखी मन को सुखी बनाने लगता है। विपश्यना रूपी यह मानसिक कसरत कोई भी कर सकता है और एक जैसा लाभ ले सकता है। किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती। ठीक वैसे ही, जैसे कि विभिन्न प्रकार के आसन और अन्य शारीरिक व्यायाम करके शारीरिक स्वास्थ्यलाभ ले सकता है। उसे किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती।

ऊपर-ऊपर से मन को सुधारने की अनेक प्रक्रियाएं हैं जो सार्वजनीन हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकती, परंतु मन की जड़ों से विकार निकालने वाली विपश्यना साधना सार्वजनीन ही होगी; क्योंकि यह प्राकृतिक संवेदनाओं का सहारा लेकर काम करती है।

यदि व्यक्ति का मन जड़ों तक विकार-विमुक्त नहीं हुआ तो वह पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुआ। रोग के ऊपरी-ऊपरी लक्षणों को दूर करने का ही काम करके रह जायगा, जड़ों को भूला रहेगा। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः नीरोगी नहीं, रोगी ही रहेगा।

विकारग्रस्त व्यक्ति केवल अपने को ही दुखी नहीं बनाता, औरों को भी दुखी बनाता है। समय-समय पर किसी न किसी विकार के उभर आने पर शरीर या वाणी से हत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, निंदा, गाली-गलौज आदि दुष्कर्मों द्वारा औरों को भी दुखी बनाता रहता है। विकार-विमुक्त व्यक्ति का मन स्वस्थ रहने के कारण उसमें मैत्री, करुणा, सद्भावना आदि सद्गुण ही जागते हैं और वह न केवल अपने आपको सुखी, स्वस्थ रखता है, बल्कि अन्य लोगों के भी सुख का कारण बनता है।

विकारग्रस्त अस्वस्थ चित्त व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, समाज के लिए भी एक अभिशाप बन जाता है। विकारमुक्त स्वस्थ चित्त व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, समाज के लिए भी एक वरदान बन जाता है।

विपश्यना साधना व्यक्ति को स्वस्थ चित्त बनाकर स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक होती है।

विपश्यी साधक सचमुच साधना में प्रगति करता है तो सारे सांप्रदायिक बंधन, दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल, जाति-पांति के भेदभाव निकम्मे निरर्थक लगने लगते हैं। हिंदू, बौद्ध, जैन आदि सांप्रदायिक नामों के विशेषणों से विमुक्त हुआ धर्म ही उसे महत्त्वपूर्ण लगने लगता है और वह चित्त-शुद्धि को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लेता है। सांप्रदायिक झगड़ों से दूर हो जाता है। वह खूब समझने लगता है कि मैलभरे मन का बैरभाव विकार जगाने से दूर नहीं होगा, मैत्री जगाने से ही दूर होगा। यह धर्म है। यह सनातन धर्म है– **एस धम्मो सनन्तनो**।

विपश्यना यही सनातन धर्म है और इसी के धारण करने में हमारा सही मंगल, कल्याण है।

———————

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन॥

उदान-वचन

१. आत्म-निरीक्षण

१. आत्म-निरीक्षण

उन दिनों भगवान कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन-विहार में वर्षावास कर रहे थे। देश का राजा प्रसेनजित और रानी मल्लिका दोनों ही भगवान के श्रद्धालु उपासक थे। दोनों स्व-निरीक्षण की विपश्यना साधना के अभ्यासी थे।

आदमी जब स्व-निरीक्षण का अभ्यासी हो जाता है तो स्व-संबंधी बहुत-सी सच्चाइयां उसके सामने उजागर होकर आने लगती हैं। वह स्वानुभूतियों के स्तर पर अपने बारे में बहुत कुछ जानने लगता है। कुदरत के बारे में बहुत कुछ जानने लगता है। जीवन-जगत की प्रथम सच्चाई प्रमुख होकर सामने आती है – यह दुःख है। साधक भीतर ही भीतर इस सच्चाई को देखने का अभ्यास करता है। सामान्य साधक कभी-कभी सचमुच द्रष्टाभाव से देख पाता है, परंतु बहुधा भोक्ताभाव से भोगने लगता है। यों कमो-बेश कभी देखता है, कभी भोगता है। जब देख रहा है तब-तब सम्यक दर्शन हो रहा है, जब भोग रहा है तब-तब फिर अविद्या के मोह-सागर में गोते खाने लगा है। सम्यक दर्शन होने लगा है याने सच्चाई का यथाभूत, यथातथ्य अनुभव होने लगा है। अब जो चिंतन-मनन होता है, संकल्प-विकल्प होते हैं, वह भी सम्यक होने लगते हैं। सत्य का यथावत दर्शन होता है, यथावत चिंतन होता है। संकल्प-विकल्प के क्षेत्र में भ्रांतियां मिटती हैं। सम्यक संकल्प और सम्यक दर्शन से सम्यक ज्ञान होने लगता है। जो बात जैसी है, वैसी समझ में आने लगती है। जितना-जितना सम्यक संकल्प और सम्यक दर्शन पुष्ट होता है, उतना-उतना सम्यक ज्ञान बढ़ता जाता है। सम्यक ज्ञान और सम्यक दर्शन से सत्य आर्यसत्य बन जाता है। भासमान सत्य पर से मरीचिका के पर्दे उतरने लगते हैं। प्रकट सत्य निरीक्षण करते-करते स्पष्ट होता जाता है, परम सत्य बनता जाता है। आर्यसत्य बनता जाता है। आर्यसत्य का द्रष्टा भी अनार्य से आर्य बनता जाता है। सम्यक संकल्प होता है, सम्यक दर्शन होता है, सम्यक ज्ञान होता है तो सम्यक विमुक्ति की ओर कदम कदम आगे बढ़ता है। सोचता है, देखता है याने अनुभव करता है और समझता है तो भ्रम-भ्रांतियों से विमुक्ति होती चली जाती है।

दुख है। जीना दुख है, व्याधि दुख है, जरावस्था दुख है, अप्रिय का संयोग दुख है, प्रिय का वियोग दुःख है, मनोकामना का पूर्ण न होना दुख है। सम्यक

संकल्प, सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान। और आगे बढ़ता है तो साधक देखता और समझता है कि अत्यंत गहरे संक्षेप में वास्तविक दुख क्या है! यह शरीर-स्कंध और यह चित्त-स्कंध जिसे अपने बावलेपन में **मैं** मान रहा हूं और **मैं** मान कर ही नहीं रह जाता, उसके साथ इतना गहरा उपादान, अभिनिवेश जगा रहा हूं, अरे! मानस के गहनतम धरातल पर सही दुख तो यही है। **मैं** के प्रति जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुख है। एक तो यह नकली **मैं,** तिस पर इससे इतना गहरा चिपकाव। इस **मैं** के प्रति, **स्व** के प्रति, **अहं** के प्रति, **अपने आप के** प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुख ही है। जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुख है।

आसक्ति का दृढ़-मूल आलंबन यह अवास्तविक **मैं** है। आत्म-आसक्ति ही प्रथम आसक्ति है। सब आसक्तियों की जननी है, सब दुखों की जड़ है। आदमी जब से होश सँभालता है, तब से अपने इस **स्व** की एक मूरत गढ़ने लगता है, एक चित्र आंकने लगता है। स्वयं ही मूर्तिकार, स्वयं ही चित्रकार, स्वयं ही सर्जक। स्वयं ही **स्व** की मूर्ति गढ़ता है, चित्र बनाता है। स्वयं ही स्रष्टा है। अपने **स्व** का स्वयंभू है।

और जब आदमी अपनी मूरत गढ़ता है तो बहुत प्यार से गढ़ता है। बहुत खूबसूरत मूरत गढ़ता है। उसे खूब सजाता है, सँवारता है। इस स्व-निर्मित मूर्ति को अपने मन-मंदिर में स्थापित करता है। अपना सारा प्यार, सारा स्नेह उस पर उँडेलता है। खूब आशिक हो जाता है, मोहित हो जाता है, अपनी इस **मूरत** पर। इस **मूरत** को और अधिक निखारने, सँवारने का काम जीवन भर चलता रहता है। **अहं** का पोषण जीवन भर होता रहता है। आदमी अपने इस **अहं** को खूब हृष्ट-पुष्ट करता रहता है। जितना अधिक हृष्ट-पुष्ट करता है, जितना अधिक स्नेह से सजाता और सँवारता है, उतना ही अधिक इस **मूरत** के प्रति आसक्त होता जाता है।

उसे इस मूरत से बढ़ कर संसार में और कुछ भी, कोई भी प्रिय नहीं लगता। अनन्यभाव से अपना सारा प्यार इस मूरत पर उडेलता है। अपने से बढ़ कर उसे और कोई प्यारा नहीं लगता। साधक के सामने यह सत्य उजागर होता है।

सत्यदर्शी, आत्मदर्शी राजा प्रसेनजित दिन भर की प्रशासकीय जिम्मेदारियों को पूरी करके सायंकाल विश्राम के लिए महल की ऊपरी मंजिल पर रनिवास में आता है। सत्यदर्शिनी रानी मल्लिका मुस्करा कर उसका स्वागत

करती है। सम्राट पूछता है, "मल्लिके, तुझे संसार में तेरे अपने आप से बढ़ कर भी कोई प्रिय है?" दूसरे शब्दों में कहें, "क्या तू स्व-केंद्रित है? स्वार्थिनी है?"

स्वदर्शिनी रानी सत्यभाषिणी भी है। मुस्करा कर कहती है, "नहीं महाराज! मुझे अपने आप से बढ़ कर कोई भी प्रिय नहीं है, यानी सचमुच मैं **स्व-केंद्रित** हूं।" और मुस्कराकर बदले में अपने पति से वही प्रश्न करती है, "महाराज! आप बताइए, क्या आप को भी अपने आप से बढ़ कर कोई अन्य प्रिय है?" दूसरे शब्दों में, "क्या आप भी निपट स्व-केंद्रित हैं? स्वार्थी हैं?"

बात झगड़े की-सी हुई। परंतु राजा प्रसेनजित भी रानी मल्लिका की भांति स्वदर्शी था, सत्यदर्शी था। सत्यदर्शी था तो सत्यभाषी भी था। मुस्करा कर कहता है, "नहीं मल्लिके, मुझे अपने आप से बढ़ कर कोई प्रिय नहीं है, याने मैं भी **स्व-केंद्रित** हूं, **स्वार्थी** हूं।"

इस सत्य संभाषण से दोनों ही धर्मभाषी प्रसन्न हुए।

सचमुच अपने आप से बढ़ कर और कोई प्रिय नहीं होता। अपने आप के प्रति गहरा प्यार होता है, गहरी आसक्ति होती है। इसीलिए अपने आप को सुरक्षित रखने की चिंता जन्मती है। **स्व** के अनिष्ट का भय जागता है। जहां प्यार है, आसक्ति है, वहां निश्चय ही भय है, आशंका है। अनिष्ट का भय, असुरक्षा की आशंका। चाहता है कि यह अपनापा, यह **स्व** कायम रहे; अनंतकाल तक कायम रहे। जो भी व्यक्ति, स्थिति, वस्तु, घटना इस **मैं** के प्रति उत्पन्न हुए अनिष्ट के भय को, असुरक्षा की आशंका को दूर करने में सहायक होते हैं, वे प्रिय लगते हैं। जो सहायक नहीं होते, वे प्रिय नहीं लगते। जो इस भय, आशंका को दूर करने की बजाय बढ़ाते प्रतीत होते हैं, वे अप्रिय लगते हैं। वह व्यक्ति कोई भी हो। वह वस्तु, स्थिति, घटना कैसी भी हो।

इस **मैं** के प्रति, अपने आप के प्रति बड़ा प्यार उमड़ता है तो इसे सदा सुखी रखना चाहता है। इस **मैं** को सुखी, सुरक्षित रखने के लिए नाना प्रकार की योजनाएं बनाता है। भविष्य के लिए सुनहरे सपने सँजोता है। इस स्वप्निल चादर के ताने-बाने बड़े मोहक होते हैं और उनके प्रति बड़ा प्यार जागता है, बड़ी आसक्ति जागती है। इस ताने-बाने बुनने में जो-जो सहायक होते हैं, वे बड़े प्रिय लगते हैं। वे कोई भी हों, कैसे भी हों।

तो प्यार अपने स्वप्नों से है, अपनी अभीप्साओं से है, अपनी तृष्णाओं से है, और यह स्वप्न, यह अभीप्सा, यह तृष्णा अपने इस **मैं** के सुरक्षित और

सुखी रहने की ही तो है। अतः मूलतः प्यार अपने-आप से है, अपने इस **मैं** से, अपनी बनायी हुई इस मूरत से है।

आत्मदर्शी, सत्यदर्शी साधक देखता है कि सचमुच उसे कितना गहरा प्यार है इस स्व-निर्मित **मैं** के प्रति। जब तक कोई इस **मैं** की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाता, तब तक प्यार **मैं** से ही करेगा, **मैं** के स्वप्नों से ही करेगा। **मैं** और 'मेरे' स्वप्नों के प्रति जो प्यार है, वही प्राथमिक है, वही प्रमुख है और सारे प्यार गौण हैं।

सारे पारस्परिक संबंध इस **मैं** पर ही आधारित हैं, **मैं** संबंधी स्वप्नों पर ही आधारित हैं। जिनको हमारे स्वप्नों से कोई वास्ता नहीं, वे न हमें प्रिय हैं, न अप्रिय। जो-जो स्वप्न का साधक है, वह-वह प्रिय है, जो-जो बाधक है, वह-वह अप्रिय है। जितना-जितना साधक है, उतना-उतना प्रिय है। जितना-जितना बाधक है, उतना-उतना अप्रिय है। चाहे वह मां हो या बाप, पुत्र हो या पुत्री, भाई हो या बहन, पति हो या पत्नी, गुरु हो या शिष्य, अड़ोसी हो या पड़ोसी, छोटा हो या बड़ा, दूर का हो या अदूर का, कोई भी तो फर्क नहीं पड़ता।

दो भाइयों में प्यार जागता है। वर्षों चलता है। खूब पनपता है, खूब बढ़ता है। लोग समझते हैं बड़ा गहरा प्यार है परस्पर। वे दोनों भी यही समझते हैं। पर नहीं जानते कि प्यार एक दूसरे से नहीं, अपने-आप से है, अपने स्वप्नों से है। प्यार गहरा होता गया – क्योंकि दोनों के स्वप्न एक जैसे थे। एक का स्वप्न पूरा होता तो दूसरे का भी अपने आप पूरा हो जाता। दोनों के सुख-सुरक्षा के स्वप्न बिल्कुल एक-दूसरे से मेल खाते थे। अतः दोनों अपने-अपने स्वप्न पूरे करने में स्वभावतः एक-दूसरे के सहायक, एक-दूसरे के सहयोगी बने रहे। यह क्रम वर्षों चला। आधी शताब्दी तक चला। परंतु इतने लंबे अर्से के बाद एकाएक दोनों के स्वप्नों में अंतर आने लगा। दोनों की सुरक्षा, दोनों के सुख भिन्न-भिन्न हो गये। भिन्न-भिन्न ही नहीं हो गये, एक दूसरे के विरोधी हो गये। एक का स्वप्न पूरा हो तो दूसरे का खंडित हो। अब देखो। कहां गया वह प्यार – जिसका इतना नाज था दोनों भाइयों को, जिसकी इतनी चर्चा थी लोगों में। दोनों एक दूसरे के पांव तले की धरती खींचने पर उतारू हो गये। एक दूसरे को कोहनी मारकर अपने रास्ते से दूर हटाने पर तुल गये। सारा भाईचारा रफूचक्कर हो गया। देखते-देखते प्यार दुश्मनी में बदल गया।

समय आने पर ऐसा भाई-भाई में ही नहीं, पति-पत्नी में भी होता है, बाप-बेटे में भी होता है, गुरु-शिष्य में भी होता है, मित्र-मित्र में भी होता है। साधक साधना में पकता है तो इस सच्चाई को समत्व बुद्धि के साथ स्वीकारता

है। नहीं पकता तो व्याकुल होता है, व्यथित होता है। स्वयं भी व्याकुल-व्यथित होता है, औरों को भी व्याकुल-व्यथित करता है।

राजा प्रसेनजित और रानी मल्लिका ने यह सच्चाई खूब समझी। दूसरे दिन भगवान के दर्शन के लिए जेतवन-विहार गये तो जो बातचीत परस्पर हुई थी, वह भगवान को कह सुनायी। भगवान ने उनके इस कथन का समर्थन किया। सचमुच लोगों को अपना **अपनापा** ही प्रिय है। अपना **मैं** ही प्रिय है।

हमें चाहिए कि हम भी इस सच्चाई को देखें, समझें। जैसे मुझे मेरा **मैं** प्रिय है, मेरे **स्वप्न** प्रिय हैं, ठीक वैसे ही औरों को भी अपने-अपने **मैं** प्रिय हैं, अपने-अपने **स्वप्न** प्रिय हैं। जैसे मेरे **मैं** के विरुद्ध किसी के द्वारा कुछ भी किया जाना मुझे अप्रिय लगता है, ठीक वैसे ही किसी अन्य को भी अपने **मैं** के विरुद्ध, अपने **स्वप्नों** के विरुद्ध कुछ भी किया जाना अप्रिय ही लगता है। साधक अपने जैसा सब को जाने और यों जान कर किसी के **मैं** को आघात न पहुँचाये, किसी के **स्वप्नों** को चोट न पहुँचाये। किसी को न सताये।

इन्हीं भावों को व्यक्त करते हुए उस समय भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े;

सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा, नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।
एवं पियो पुथु अत्ता परेसं, तस्मा न हिंसे परमत्तकामो॥

– चित्त को सभी ओर दौड़ा कर देखें। अपने से प्यारा कोई नहीं दिखता। जो बात अपने बारे में सच है, वही औरों के बारे में सच है। औरों को भी अपने-आप से प्यारा कोई नहीं दिखता। इसलिए अपनी भलाई चाहने वाले को चाहिए कि किसी दूसरे को न सताये।

आओ, भगवान की इस उदान वाणी को हृदयंगम करें। किसी को न सतायें! किसी को न सतायें! किसी को न सतायें! इसी में हमारा सही कल्याण है!

———————

२. कल्याण-मार्ग

उदान-वायु माने वह श्वास-वायु जो हृदय से उठे और कंठ-तालू तक आकर मुँह से बाहर निकले। इसी प्रकार उदान-वचन माने वह उद्गार, जो सीधे हृदय से उठे और वाणी द्वारा प्रकट हो जाय। ऐसा उद्गार शोकजन्य भी हो सकता है और हर्षजन्य भी। परंतु पुरातन भाषा में सामान्यतया हर्षजन्य उद्गार को ही उदान कहा गया है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध तथा अन्य संतों द्वारा समय-समय पर प्रवदित उल्लास-वचन उदान कहलाए। **अनेक जाति संसारं...** भगवान का बहु प्रसिद्ध प्रथम उदान है, जो कि बुद्धत्त्व प्राप्त होते ही निर्वाण का साक्षात्कार होने पर उनके मुँह से निकला। तदनंतर कई अवसरों पर किसी-न-किसी घटना को देख कर उनके मुँह से अनायास हर्ष के उद्गार निकले **'अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमं उदानं उदानेसि'** याने "उस समय इस बात को जान कर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े।" ऐसे हर्षोद्गारों को कालांतर में **उदान** के नाम से ही संगृहीत किया गया, जो पालि त्रिपिटक के 'खुद्दक निकाय' नामक संग्रह का एक लघु, परंतु अत्यंत प्रेरणादायक ग्रंथ है।

जिस कल्याणी विपश्यना के अभ्यास से उन्हें स्वयं नितांत विमुक्ति मिली, उसी का अभ्यास जीवन-भर लोगों को कराते रहे। इस विधि द्वारा स्वयं विमुक्त होकर हर्षित हुए। अतः अन्य साधकों को भी इसका सकुशल अभ्यास करते अथवा अभ्यास द्वारा मुक्त हुआ देख कर उनके मुँह से यदा-कदा उदान के शब्द निकले हैं। आज हम ऐसे ही एक उदान की चर्चा करेंगे।

एक बार भगवान श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा – **अञ्ञतरो भिक्खु भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय पुराणकम्मविपाकजं दुक्खं तिब्बं खरं कटुकं वेदनं अधिवासेन्तो सतो सम्पजानो अविहञ्ञमानो।**

अर्थात, कोई एक भिक्षु भगवान के समीप पालथी मारकर, कमर सीधी करके बैठा हुआ अपने पुराने कर्मों के विपाक द्वारा जो अत्यंत तीव्र, कठोर और कटु दुखद संवेदनाएं अनुभूत हो रही थीं, उन्हें बिना विकल हुए, उनके अनित्य स्वभाव को भलीभांति समझता हुआ स्मृतिवान रह कर सहन कर रहा था। उस समय यह देख कर भगवान के मुँह से उदान के ये वचन निकल पड़े:

सब्ब कम्मजहस्स भिक्खुनो, धुनमानस्स पुरे कतं रजं।
अममस्स ठितस्स तादिनो, अत्थो नत्थि जनं लपेतवे॥

अर्थात, जिस भिक्षु ने समस्त नए कर्म करने त्याग दिये, बंद कर दिये और पुराने कर्मों का जो मैल संगृहीत था, उसे धुन-धुन कर दूर कर रहा है, वह साधक ऐसा करते हुए विपश्यना-साधना के उस धरातल पर स्थित हो गया है, जहां कि 'मेरा' कहने के लिए कुछ नहीं रह गया है। ऐसा साधक अब लोगों से क्या बात करेगा? लप-लप करने के लिए कुछ नहीं रह गया। वह आर्य-मौन में स्थित होकर सतत साधनारत है।

किसी को मुक्ति के मार्ग पर लगे हुए देख कर उन महाकारुणिक भगवान बुद्ध के मुँह से ऐसे उदान-वचन निकलने स्वाभाविक थे। इस उदान में विपश्यना साधना की पूरी विधि बहुत थोड़े से शब्दों में आ गई है। आओ, इस उदान के भाव को जरा विस्तार से समझने की कोशिश करें!

विपश्यना याने विदर्शना यानी विशिष्ट, सज्ञान, सम्यक, यथार्थ, प्रकृत दर्शन। संस्कृत, बनावटी, कपोलकल्पित दर्शन नहीं। भ्रम-भ्रांति या विपल्लास (विपर्यास) के मायावी आवरण से जो विकृत हो गया है, और जैसा है वैसा न लग कर कुछ और ही लग रहा है; उसे निरावरण कर, जैसा है वैसा, याने यथाभूत-दर्शन, सही-सही दर्शन। मोह-मूढ़तापूर्वक नहीं, बल्कि सज्ञान-दर्शन। इसीलिए विपश्यना को **यथाभूतञाणदस्सनं** (यथाभूत ज्ञान-दर्शन) कहा गया, याने यथार्थ का सही ज्ञान (सम्यक ज्ञान) और सही दर्शन (सम्यक दर्शन)। यहां दर्शन शब्द का अर्थ रंग-रूप देखना नहीं, प्रत्यक्ष अनुभूति करना है।

हमें सबसे बड़ी और सबसे खतरनाक भ्रांति स्वयं अपने बारे में होती है। जो **मैं** नहीं है, उसके प्रति **मैं** होने की, जो **मेरा** नहीं है, उसके प्रति **मेरा** होने की और जो **मेरी आत्मा** नहीं है, उसके प्रति **मेरी आत्मा** होने की भ्रांति। यह शरीर न **मैं** हूं, न **मेरा** है, न **मेरी आत्मा** है। इस सच्चाई को श्रुतज्ञान द्वारा याने धर्म-ग्रंथों को पढ़-पढ़कर, धर्मगुरुओं के धर्मोपदेश सुन-सुन कर भक्ति भावावेश के स्तर पर खूब मान रहे हैं, इससे और आगे बढ़ते हैं तो चिंतन-मनन करके बौद्धिक स्तर पर भी खूब मान रहे हैं, परंतु स्वानुभूति के अभाव में वास्तविकता के स्तर पर तो शरीर को **मैं, मेरा, मेरी आत्मा** समझ कर ही सारा जीवन-व्यवहार चलता है और इसी कारण मोहजन्य, अहंभाव और ममत्वभाव की आसक्तियों का प्रपंच फैलता है और हमें दुख-पाश में बांधता है। इसी प्रकार शरीरधारा और चित्तधारा के संस्पर्श के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं को, चित्त और चित्तवृत्तियों को **मैं, मेरा, मेरी आत्मा** मानते रहने की मिथ्या दृष्टि के कारण अज्ञानवश नाना प्रकार के विकारों और परिणामस्वरूप दुखों का प्रजनन-संवर्धन करते रहते हैं। शरीर,

संवेदना, चित्त और चित्तवृत्तियों के धर्म-स्वभाव का सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान ही यथाभूत ज्ञानदर्शन है, जो कि उनके उत्पाद व्यय वाले अनित्य लक्षण की प्रत्यक्षानुभूति करवाता है, जिसके परिणामस्वरूप **मैं, मेरे** की भ्रामक दृष्टि और भ्रामक ज्ञान से मुक्त होकर उत्पादविहीन, व्यय-विहीन, अच्युत, अमृत, निर्वाण पद का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञानमयी विपश्यना, विदर्शना के अभ्यास को ही भगवान ने मुक्ति के लिए **एकायनो मग्गो** यानी एकमात्र मार्ग कहा। सचमुच शरीर और चित्तधारा के प्रति तादात्म्यजन्य मिथ्यादृष्टि के रहते कोई व्यक्ति कैसे विमुक्त हो सकता है भला? इस अहं और ममत्व से हटकर ही विमुक्ति प्राप्त होती है। ऐसा होने पर ही नए कर्म बनने रुकते हैं और पुराने क्षीण होने लगते हैं।

सचमुच जब कोई साधक नये कर्म बांधना बंद कर दे और पुरानों का क्षय कर ले, **खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं,** तभी निर्वाणलाभी होता है। किसी दीपक का तेल और बाती समाप्त हो जाय तो वह सहज ही निवृत्त हो जाता है। इन उपादानों के बिना क्या जलेगा? कैसे जलेगा?

आओ, समझें! विपश्यना द्वारा नये कर्मों की ग्रंथियां कैसे बँधनी बंद हो जाती हैं? और पुराने कर्मों की ग्रंथियां धुन-धुन कर कैसे खुलती जाती हैं? नये कर्म बंद करने के लिए ही साधक **निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय** होता है यानी पांव मोड़कर, पालथी मार कर बैठता है। रीढ़ की हड्डी सीधी करके काया को ऋजु रखता है और साधना का अभ्यास शुरू करता है। अधिष्ठानपूर्वक स्थिर बैठा है, हिलता नहीं, डोलता नहीं, आंखें बंद हैं, मुँह बंद है। ऐसी अवस्था में स्थूल स्तर पर काया और वाणी के नये कर्म बंद कर लिए गये। अब सूक्ष्म स्तर पर चित्त के नए कर्मों को रोकने के लिए चित्त को अप्रमत्त बनाता है, जागरूक बनाता है। **सतो सम्पजानो** होता है, यानी भली प्रकार सम्यक रूप से जानता हुआ स्मृतिमान होता है। क्या भली प्रकार से जानता हुआ? इसी सच्चाई को जानता हुआ कि **अनिच्चा वत सङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो** यानी जो कुछ भी संस्कृत है, जो कुछ बनता है, वह सचमुच अनित्य ही है। उत्पाद और व्यय होना उसका ध्रुव धर्म है, स्वभाव है। विपश्यी साधक अनुभूतियों के स्तर पर देखता है कि ऊपर-ऊपर से चर्म-चक्षुओं द्वारा ठोस, स्थूल, स्थिर और जड़वत लगने वाला यह शरीर सूक्ष्म-स्तर पर उत्पाद-व्यय स्वभाव वाले परमाणुओं की तरंगों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार देखता है कि चेतना-स्कंध भी (विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार) याने जानने, पहचानने, संवेदनशील होने और प्रतिक्रिया करते हुए नए कर्म-संस्कार

बनाने की समस्त चेतना भी उत्पाद-व्यय के स्वभाववाली ही है। तरंग ही तरंग। चित्त और काया का समग्र प्रपंच प्रतिक्षण उदय-व्यय, उदय-व्यय के स्वभाववाला है। उर्मियों और बुदबुदों के स्वभाव वाला है। इस सच्चाई को जब-जब प्रत्यक्षानुभूति द्वारा देखता है तब-तब प्रज्ञा में स्थित होता, विद्या में स्थिर होता है। स्थितप्रज्ञ बनता है, विद्यासंपन्न बनता है। जब-जब इससे विमुख होता है तब-तब दुष्प्रज्ञ बनता है, अविद्या में उलझता है। दुष्प्रज्ञ अवस्था में शरीर और चित्तस्कंध पर उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक सुखद या दुखद संवेदना के प्रति तादात्म्य स्थापित करता है, उसे **मैं, मेरी** मानता है। अतः वेदना-स्कंध याने संवेदनशील होनेवाले चित्तांश के पश्चात जो संज्ञा-स्कंध याने पहचानने वाला चित्तांश उत्पन्न होता है, वह भ्रम पैदा करने वाला, **अहं, मम** से भरा हुआ, सुखद और दुःखद के प्रति राग और द्वेष से भरा हुआ ही होता है। परिणामस्वरूप संस्कार-स्कंध याने प्रतिक्रिया करने वाली चेतना अत्यंत प्रबल होकर राग-द्वेष-मूलक अनेक नए-नए कर्म-बंध बांधती है।

बार-बार के अभ्यास द्वारा साधक विद्या और अविद्या, प्रज्ञा और दुष्प्रज्ञता, ज्ञान और अज्ञान के इस विभेद को समझता और स्मृति और संप्रज्ञान यानी जागरूकता और अनित्यबोध में स्थित रहने का अभ्यास करते हुए अधिक देर ऐसी अवस्था में रहता है, जब अविद्या के स्थान पर विद्या जागृत रहती है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक संवेदना के प्रति जो प्रज्ञा जागती है, वह उस क्षण के शरीर-स्कंध और संवेदना-स्कंध के अनित्य लक्षण को महसूस करने वाली होती है और इसलिए उसे **अमम** यानी यह **मेरी नहीं** है; ऐसा पहचानती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसके प्रति न राग उपजता है, न द्वेष। उसका परिवर्तनशील स्वभाव ही प्रमुख रहता है। इस हालत में संस्कार स्कंध निर्बल हो जाता है, नया संस्कार नहीं बनता। नया संस्कार ही नया कर्म है। साधक जिस क्षण नए कर्म-बंधन को त्यागता है, उस क्षण चित्त-संतति पर किसी पुराने कर्म के फल-विपाक, फल पकने से होने वाली सुखद-दुखद संवेदना के उत्पन्न होने को अवकाश, अवसर देता है। चित्त-संतति पर पुराने कर्मों के फलस्वरूप जो संवेदना होती है, सामान्यतया उसके कारण अपनी मूढ़तावश हम नई राग-द्वेषमयी प्रतिक्रियाएं याने नए कर्म-संस्कार पैदा करते हैं। परंतु विपश्यना के अभ्यास द्वारा सचेत और संप्रज्ञ रहते हुए जो उनके अनित्य लक्षणों को देखता है, उनके साथ ममत्वहीन रहता हुआ राग-द्वेष से दूर रहता है, वह इस पुराने कर्म-विपाक का बल क्षीण कर लेता है। अब यह फल-विपाक कैंसर की तरह बढ़ नहीं सकता। यही **खीणं पुराणं** है।

जहां एक कर्म-विपाक का समूह उदीर्ण हुआ और प्रज्ञापूर्वक उसे क्षय कर लिया, वहां दूसरे कर्म-फलों का समूह तत्क्षण प्रकट होगा। यों एक के बाद एक पुराने कर्मों के विपाक का तांता लग जाता है। विपश्यना के प्रज्ञा-यज्ञ में उनकी आहुति लगती जाती है। यह क्रम जितनी देर तक चलता है, उतनी देर **खीणं पुराणं** होता रहता है। परंतु जब कोई कर्म-विपाक अत्यंत घनीभूत पीड़ा के रूप में प्रकट होता है तो साधक की सारी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है, विद्या विलीन हो जाती है, प्रज्ञा क्षीण हो जाती है। पीड़ा के प्रति अममत्व-भाव रख ही नहीं पाता। बौद्धिक स्तर पर भले अनित्य-अनित्य करता रहे, परंतु वास्तविक स्तर पर ममत्वभाव आ जाने के कारण उसे दूर करना चाहता है और चाहने से वह दूर होती नहीं। अतः लगता है कि यह तो नित्य है, यह पीड़ा कभी समाप्त नहीं होगी। वास्तविक स्तर पर अनित्य तब लगे जब कि उसमें भी **उप्पादवयधम्मिनो** – उत्पाद-व्यय का धर्म, स्वभाव तरंगों के रूप में अनुभूत होने लगे। उस स्थूल संघट्ट ठोस पीड़ा की घनसंज्ञा नष्ट कर, सूक्ष्म प्रकंपन-लहरियों की अनुभूति प्रज्ञामयी विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा ही होती है। यही ग्रंथिविमोचन है। यही **धुनमानस्स पुरे कतं रजं** है। यही पुराने कर्म-रज की ग्रंथियों को धुनना है। धुनना माने प्रकंपित करके अलग करना। जैसे कोई धुनिया कपास की ग्रंथि को अपने धुनके के तार से प्रकंपित कर खोलता है, कपास का एक-एक तार अलग-अलग कर देता है। छोटी-सी ग्रंथि भी रह जाय, उलझन रह जाय तो धुनना पूर्ण नहीं हुआ।

इसी प्रकार विपश्यना साधना के अभ्यास में जब तक सघनता की अनुभूति होती रहती है, तब तक धुनना पूरा नहीं हुआ। घनत्व नष्ट करना ही ग्रंथि को धुन कर खोल देना है। **पुराणकम्मविपाकजं दुक्खं तिब्बं खरं कटुकं वेदनं अधिवासेन्तो** यानी पुराने कर्मों के फल पकने के कारण हुई तीव्र, प्रखर, कटु, दुःखद संवेदना को सहन करता है। पर कैसे सहन करता है? यदि विवश-व्याकुल होकर सहन करता है तो यह सहन करना पुराने मैल को दूर करने वाला नहीं होता। परंतु स्मृति संप्रज्ञान-पूर्वक जागरूक रहते हुए सहता है तो सही माने में **अविहञ्ञमानो** यानी आकुल-व्याकुल हुए बिना सहन करता है। यही विपश्यना है। **यथाभूतञाणदस्सनं** है। ऐसा करता है तो नए कर्म नहीं बांधता और इसी वजह से पुरानों को क्षय होने का अवकाश देता है। जैसे ही जरा सी व्याकुलता आयी, याने ममत्वभाव आया वैसे ही राग-द्वेषजन्य प्रतिक्रिया शुरू हुई और यही नया कर्म-संस्कार है। ऐसा होते हुए ही पुराने का धुनना, धुलना रुक गया। परंतु सतत अभ्यास करते-करते समझदार पराक्रमी

साधक उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब कि **अममस्स ठितस्स** यानी अममत्वभाव में पूरी तरह स्थित हो जाता है। अममत्वभाव में स्थित हो गया तभी तीव्र से तीव्र और प्रखर से प्रखर दुःखद संवेदना को **अविहञ्ञमानो,** बिना आकुल-व्याकुल हुए सहन करता है और परिणामतः **सब्बकम्मजहस्स** हो जाता है, यानी सभी नए कर्मों से बिल्कुल विरत हो जाता है। साधना का सारा समय **धुनमानस्स पुरे कतं रजं** पुराने कर्म को धुन कर साफ करने में ही लगाता है ताकि उस अवस्था तक पहुँच जाय, जहां **विसङ्खारगतं चित्तं** यानी चित्त सारे संस्कारों से विहीन हो जाय, नितांत विमुक्त हो जाय।

ऐसे समझदार साधक को अब अभ्यास करना ही रह गया। लोगों से फिजूल बात करने के लिए अवकाश कहां? अवसर कहां? मानवीय जीवन का प्रतिक्षण कितना अमूल्य है! इसे व्यर्थ नहीं गँवा सकता। वह **अत्थो नत्थि जनं लपेतवे** हो जाता है। जो साधना की गंभीरता को नहीं समझता या जो अभ्यास करता ही नहीं, अथवा करता है तो थोड़ी बहुत अनुभूतियां प्राप्त करके फूल उठता है और आगे काम बंद कर देता है, ऐसा व्यक्ति सारा समय लोगों से लप-लप करने में, बकवास में ही बिताता है। इस कल्याणकारी साधना को वाणी-विलास और बुद्धि-विलास का विषय बनाता है। सारा जीवन आलाप-संलाप में ही खो देता है। कल्याण साधना करने में है, मात्र साधना की चर्चा करने में नहीं।

इसीलिए किसी साधक को अपने समीप पालथी मारे, कमर सीधी किये, बिना हिले-डुले और पूर्ण मौन साधे, पुराने कर्मों के दुःखों को स्मृति और प्रज्ञा के साथ सहन करते हुए, सभी नए कर्मों के त्याग का पराक्रम करते हुए और पुराने कर्मों की सफाई करते हुए तथा अममत्व में स्थित होते देखा तो भगवान के मुँह से ये उदान वाक्य निकलने स्वाभाविक ही थे। हमें भी इससे प्रेरणा मिले और हम भी इस प्रकार के पराक्रम में लग जायँ। इसी में हमारा कल्याण है!

------

३. सातत्य

गत प्रकरण में उदान की एक गाथा पर चर्चा की है, जिसका विपश्यना साधना के सक्रिय अभ्यास से विशिष्ट संबंध है। अब हम ऐसी ही तीन अन्य उदान गाथाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

(एक)

यह उदान उस समय कहा गया जब एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में;

आयस्मा महामोग्गल्लानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय कायगताय सतिया अज्झत्तं सूपतिट्ठाय।

यानी आयुष्मान महामोग्गल्लान पांव मोड़ कर पालथी मारे काया सीधी किये भगवान से नअतिदूर बैठे थे और भीतर ही भीतर कायगतासति में सुप्रतिष्ठित थे, याने कायानुपश्यना की जागरूकता में स्थित थे।

कायानुपश्यना के अनेक प्रकार हैं। इनमें सबसे उत्तम आनापान सति याने आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता का अभ्यास ही माना गया है। आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूक रहना कायानुपश्यना ही है। भगवान ने कहा है – **कायेसु कायञ्ञतराहं एवं वदामि यदिदं अस्सासा पस्सासा** यानी आश्वास-प्रश्वास को मैं काया में दूसरी काया कहता हूं। काया में आश्वास-प्रश्वास की इस दूसरी काया का दर्शन यानी अनुभूति करते हुए सिर से पांव तक और पांव से सिर तक सारे शरीर की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि प्राणवायु का गमनागमन केवल फेफड़ों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि रक्तवाहिनी शिराओं के जरिए शरीर के ओर-छोर तक व्याप्त है। अत्यंत सूक्ष्म-स्तर पर काया के अनित्य-स्वभाव की अनुभूति होने लगती है और इस प्रकार आसक्तिजन्य क्लेशों से सहज-विमुक्ति होने लगती है।

कायगता सति का अभ्यास कभी-कभी किसी-किसी साधक को उसकी विशिष्ट मनःस्थिति को देखते हुए आनापान की अपेक्षा अधिक स्थूल अवस्था से आरंभ करना सिखाया जाता है, जैसे कि साधक अपने उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि शरीर के सभी बाह्य क्रिया-कलापों के प्रति

जागरूक रहने का अभ्यास आरंभ करता है। जैसे स्थूल बाह्य अंगों के हलन-चलन का निरीक्षण कराया जाता है, वैसे ही कभी-कभी किसी-किसी साधक को शरीर के भीतर के स्थूल अंग जैसे हृदय, फेफड़ा और इससे अधिक सूक्ष्म मांस-मज्जा आदि का निरीक्षण कर उनके अशुभ-अशुचि स्वभाव की अनुभूति करायी जाती है। किसी-किसी साधक को किसी मुर्दे के सड़े-गले शव का निरीक्षण कर अपने शरीर को भी उसी स्वभाव वाला मान अशुभ-अशुचि की अनुभूति करायी जाती है। परंतु आरंभ चाहे जिस स्थूल स्थिति से करें, साधक को पहुँचना उस सूक्ष्म स्थिति तक ही पड़ता है जहां काया का ठोस भासमान सत्य खंडित होकर परमार्थ स्वभाव-मात्र अनुभूत होने लगे। कायानुपश्यना का साधक यदि काया के ठोस स्थूल-सत्य तक ही सीमित रह जाय तो संस्कारों की जड़ें नहीं निकाल पाता। ठोस स्थूलता में व्यक्तित्व का भान है। जहां व्यक्तित्व है, वहां **मैं, मेरा, आत्मभाव, ममभाव** की मरीचिका है ही। इस स्थूलता को भंग करके उसे सूक्ष्म-स्वभावगत परमार्थ-सच्चाइयों की ओर बढ़ना होता है। जहां चाहे हाथ हो या पांव, हड्डी हो या मांस, परमार्थतः धातुओं का स्वभाव-मात्र ही रह जाता है। आकाश याने शून्य में पृथ्वीधातु, अग्निधातु, जलधातु और वायुधातु का व्यक्तित्वविहीन सम्मिश्रण-मात्र महसूस होने लगता है। इन धातुओं की अपनी-अपनी अलग-अलग स्वभावगत अनुभूतियां हैं जो क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। पृथ्वीधातु का भारीपन-हल्केपन का खुरदरा और कोमलता का स्वभाव, अग्निधातु का उष्ण या शीतल तापमान का स्वभाव, जलधातु का संयोजनशील-स्वभाव और वायुधातु का हलन-चलन का स्वभाव। इस सूक्ष्म स्वभाव-निरीक्षण में अंगों की स्थूल आकृतियां नहीं रह पातीं। शरीर-रसायन की इन सूक्ष्म-सच्चाइयों की अनित्यता का स्वयं साक्षात्कार करता हुआ साधक अनासक्त होता है। उसका चित्त क्लेशों से विमुक्त होता है।

अवश्य ही भिक्षु महामोग्गल्लान **कायगता सति** की अति सूक्ष्म-अवस्था में ही विचरण कर रहे थे। तो ही कहा गया – **कायगताय सतिया अज्झत्तं सुपतिट्ठाय** यानी अभ्यंतर में कायगतानुस्मृति में सुप्रतिष्ठित हैं। काया की बाहरी हलन-चलन अथवा किसी बाहरी मुर्दे आदि को देख कर कायानुपश्यना नहीं कर रहे, बल्कि आंख मूंदे, अंतर्मुखी हुए अपने भीतर सूक्ष्म-स्तर पर सिर से पांव के तलुओं तक शरीर के अनित्यधर्मा, विपरिणामधर्मा, विनाशधर्मा स्वभाव की विपश्यना करने में सुप्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार समग्र शरीर की सूक्ष्म-सच्चाइयों के प्रति जागरूक रहने वाला साधक अपनी छहों इंद्रियों के प्रति स्वभावतः जागरूक रहने लगता है। आंख,

कान, नाक, जीभ और त्वचा के द्वारों पर विषयों का संस्पर्श होते ही काया में संवेदना होती है। इन शारीरिक इंद्रियों के अतिरिक्त मन पर भी शरीर अथवा किसी चैतसिक विषय का संस्पर्श हो तो काया में संवेदना की तरंगें पैदा होती हैं। उनके निरीक्षण का अभ्यास करने लगे तो इंद्रियों के इन छहों द्वारों पर जागरूकता का पहरा लग जाता है और सहज ही इनका संयमन हो जाता है। इसी अभ्यास को **सम्पजञ्ञ** (संप्रज्ञान) कहते हैं। इस अभ्यास में जब साधक सातत्य लाता है याने निरंतरता लाता है तो इंद्रियातीत, लोकातीत अनुपम परम-सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। अपने निर्वाण को जान लेता है।

महामोग्गल्लान को इसी प्रकार साधना में रत हुए देख कर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े;

सतिकायगता उपट्ठिता, छसु फस्सायतनेसु संवुतो।
सततं भिक्खु समाहितो, जञ्ञा निब्बानमत्तनो॥

– समग्र काय-स्कंध पर स्मृति याने जागरूकता प्रतिष्ठित हो, छहों इंद्रियों के स्पर्श-द्वार पूर्ण जागरूकता के कारण संयत हो, साधक का चित्त जागरूकता के सातत्य में समाहित हो तो वह अपने निर्वाण को जान ही लेता है। उसका साक्षात्कार कर ही लेता है।

(दो)

इसी प्रकार श्रावस्ती के जेतवन-विहार में ही एक अन्य अवसर पर:

आयस्मा महाकच्चानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति। पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय कायगताय सतिया अज्झत्तं परिमुखं सुपतिट्ठाय।

यानी आयुष्मान महाकात्यायन भगवान से न अति दूर पांव मोड़ कर पालथी मार कर कमर सीधी करके बैठे हैं और अंतर्मुखी होकर कायगता-स्मृति में भलीभांति प्रतिष्ठित हैं, अर्थात काया में होने वाली अनुभूतियों के प्रति अभिमुख हो कर सजग हैं। यह देख भगवान के मुँह से ये उल्लास वाक्य निकल पड़े;

यस्स सिया सब्बदा सति सततं कायगता उपट्ठिता।
नो चस्स नो च मे सिया न भविस्सति न च मे भविस्सति।
अनुपुब्बविहारि तत्थ सो कालेनेव तरे विसत्तिकं॥

– जिसकी स्मृति कायानुपश्यना में सर्वदा प्रतिष्ठित रहती है, शरीर के प्रति जिसकी जागरूकता में सातत्य बना रहता है, वह इस तथ्य के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो जाता है कि इस साधना द्वारा मैंने जिन कर्म-संस्कारों की निर्जरा कर ली, जिनका इस चित्त-संतति पर अब कोई बीज नहीं बच रहा, वे अपना कर्मफल लेकर मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होंगे। इसी प्रकार इस सतत जागरूकता के अभ्यास के कारण जो नये संस्कार नहीं बनने वाले हैं, वे मेरे लिए सदा के लिए नहीं उत्पन्न होंगे, याने पुराने क्षीण हुए और नए बनेंगे नहीं। **खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं** , इस स्वानुभूतिजन्य आश्वासन के कारण उसे पुराने संग्रह के प्रति चिंता उत्पन्न नहीं होती और न ही भविष्य में नए बना सकने का भय अथवा आशंका। इस अभ्यास से वह निश्चिंत और निर्भय हो जाता है। शरीर पर जहां-जहां एक के बाद एक जो विभिन्न अनुभूतियां होती रहती हैं, उनके प्रति विपश्यना-भाव से याने साक्षीभाव से विहार करता हुआ वह साधक समय पाकर सारी आसक्तियों-विसक्तियों के पार चला जाता है, याने पूर्णतया अनासक्त हो, विमुक्त हो जाता है।

इस गाथा में **अनुपुब्बविहारी** शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें सक्रिय विपश्यना साधना की विधि समायी हुई है। अनुपुब्ब माने क्षण-प्रतिक्षण, क्रमशः एक के बाद एक जो कुछ प्रकट होता हो। इस क्रमशः उत्पन्न हुए क्षण में विहार करना, याने इस प्रत्युत्पन्न क्षण में जीना, यही अनुपुब्बविहारी का लक्षण है। शरीर और चित्त की संयुक्त धारा पर इस क्षण जो भी घटना घटित हुई अर्थात शरीर-स्कंध पर जो भी संवेदना महसूस हुई, उसका भूतकाल की संवेदनाओं की यादों से कोई संबंध न हो, भविष्य में होने वाली संवेदनाओं की कामना-कल्पना से कोई संबंध न हो, केवल वर्तमान क्षण की संवेदना का अनित्य स्वभाव ही महसूस हो। यही इस क्षण में जीना है, यही विपश्यना साधना है। संबंध हुआ कि तुलना होगी, मूल्यांकन होगा, अच्छे बुरे का लेबल लगेगा और स्वभावतः प्रतिक्रियास्वरूप नये राग और नये द्वेष का प्रजनन होगा। यह सब न हो और केवल इस क्षण के तथ्य को और उसके परिवर्तनशील स्वभाव को स्वीकार करके रह जायँ तो उसके प्रति न राग जागेगा, न द्वेष। इस प्रकार आसक्ति-विसक्ति पर प्रहार होगा, अभ्यास में सातत्य आने लगेगा तो आसक्ति-विसक्ति निर्मूल होती चली जाएगी।

इस गाथा के दो और शब्द साधकों के लिए विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। एक है **सब्बदा** और दूसरा है **सततं** । दोनों पर्यायवाची हैं, समानार्थी हैं। **सब्बदा सति** याने सर्वदा जागरूक रहने की बात कह कर, **सततं कायगता उपट्ठिता** में पुनः

सातत्य पर याने निरंतरता पर जोर दिया गया है। सारे आस्रवों को, मैलों को काट कर मुक्त अवस्था में स्थित होने और परम-पद निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए सचमुच यह **सब्बदा** और **सततं** अत्यंत अनिवार्य हैं। यह सातत्य ही **सम्पजञ्ञ** है जो कि भवमुक्ति-प्रदायक है।

जो गृहत्यागी हैं, उन पर गृही की-सी जिम्मेदारियां नहीं हैं। वैसी अड़चनें नहीं हैं। अतः यदि वे साधना की गंभीरता को समझें और कर्मकांडों और बुद्धि-विलासों से मुक्त होकर अभ्यास में सातत्य लाना चाहें तो ला सकते हैं। परंतु गृहस्थों के लिए कठिन है, इसीलिए उनके लिए कुछ दिनों का अभिनिष्क्रमण याने गृहत्याग आवश्यक है। वे दस दिन अथवा उससे लंबी अवधि के शिविरों में सम्मिलित होकर, औरों से संबंध तोड़ कर, संपूर्ण मौन रखते हुए अभ्यास की निरंतरता की ओर बढ़ सकते हैं। बर्मा जैसे देश में तो कोई कोई गृहस्थ कुछ दिनों या महीनों के लिए सचमुच गृह त्याग कर भिक्षु हो जाते हैं जिससे कि किसी योग्य भिक्षु-आचार्य के साथ रह कर, भिक्षु-जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए अभ्यास में सातत्य ला सकें। परंतु अधिकांश गृहस्थ साधक साधनाकाल के लिए घर छोड़ कर किसी साधना केंद्र में गृहीवेश में ही रहते हुए अष्टशील का कड़ाई से पालन कर, विपश्यना के अभ्यास में निरंतरता लाने का सत्प्रयास करते हैं। घर में रहते हुए अथवा गृहत्यागी होकर भी बहुधन्धी बने रहने से अभ्यास में सातत्य नहीं आ सकता।

(तीन)

इसी प्रकार श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही पुनः एक बार आयुष्मान सारिपुत्त भगवान के समीप, पांव मोड़ कर पालथी मार कर काया सीधी कर बैठे साधना करते हुए – **अत्तनो उपसमं पच्चवेक्खमानो** यानी अपने उपशम अर्थात निर्वाण का प्रत्यवेक्षण कर रहे थे। इसे देख भगवान के मुँह से उदान के ये वाक्य निकल पड़े;

उपसन्तसन्तचित्तस्स, नेत्तिच्छिन्नस्स भिक्खुनो।
विक्खीणो जातिसंसारो, मुत्तो सो मारबंधना॥

– विपश्यना साधना के सतत अभ्यास से जिस शांत-चित्त साधक के सारे कर्म-संस्कार उपशांत हो गये हैं, उसने अपनी भव-रज्जु छिन्न कर ली है, संसार में उसका जन्म नष्ट हो गया है और वह मृत्युराज के बंधन से मुक्त हो गया है, यानी जन्म मरण के बंधन से छुटकारा पा चुका है।

विपश्यना साधना की यही चरम उपलब्धि है।

इन मंगलमय उदान वाक्यों से हमारे मन में भी प्रेरणा जागे और इनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर, हम भी अपनी विपश्यना साधना में सातत्य पैदा करके परम-सुख निर्वाण का साक्षात्कार कर विमुक्त हों, यही मंगल कामना है!

———————

४. अधिष्टान

यहां उदान की ही तीन और गाथाओं पर चर्चा करेंगे, जिससे विपश्यना-साधना-संबंधी मार्गदर्शन और प्रेरणा भी मिले।

(एक)

एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में –

आयस्मा सारिपुत्तो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा।

यानी आयुष्मान सारिपुत्त भगवान के समीप पांव मोड़कर पालथी मारे बैठे थे और काया को सीधी रख कर आंतरिक सच्चाइयों के प्रति अभिमुख होकर जागरूकता में स्थित थे।

यह देख कर भगवान के मुँह से उदान के यह बोल निकल पड़े;

यथा पि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खू, पब्बतो व न वेधती॥

– जैसे कोई शैल-पर्वत अचल होकर सुप्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मोह का संपूर्ण क्षय कर देने वाला निर्वाणदर्शी साधक पर्वत-सदृश अचल अडोल हो जाता है।

निर्वाणिक अवस्था में चंचलता कहां?

(दो)

इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही पुनः आयुष्मान सारिपुत्त भगवान के समीप पालथी मारे कमर सीधी कर बैठे हुए;

अप्पिच्छो संतुट्ठो पविवित्तो, असंसट्ठो आरद्धवीरियो अधिचित्तमनुयुत्तो।

याने अल्पेच्छ, संतुष्ट, अनासक्त, संसर्गविहीन, पुरुषार्थी, अधिचित्त में सजग हो साधना कर रहे थे। ऐसा देख भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े;

अधिचेतसो अप्पमज्जतो, मुनिनो मोनपथेसु सिक्खतो।
सोका न भवन्ति तादिनो, उपसन्तस्स सदा सतीमतो॥

– अधिचित्त यानी चित्त की ऊंची अवस्थाओं में अप्रमत्त रहने वाला, मुनियों के मौन-पथ की यात्रा पूरी कर लेने में सुशिक्षित, शांत-चित्त, सदा स्मृतिमान याने जागरूक साधक को दुख नहीं छू पाता।

स्मृति और संप्रज्ञान के सतत अभ्यास द्वारा जो मार्ग के अंतिम छोर निर्वाण तक पहुँच गया है, उसे भला शोक कैसा?

(तीन)

इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर आयुष्मान चूलपंथक पांव मोड़े, पालथी मारे, कमर सीधी किये भगवान के समीप बैठे;

परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा यानी अपनी चित्तधारा पर जो भी आलंबन उपस्थित हो उसी के प्रति अभिमुख हो जागरूकता में प्रतिष्ठित हुए साधना रत थे। ऐसा देख भगवान के मुँह से उदान के ये वचन निकल पड़े;

ठितेन कायेन ठितेन चेतसा, तिट्ठं निसिन्नो उद वा सयानो।
एतं सतिं भिक्खू अधिट्ठहानो, लभेथ पुब्बापरियं विसेसं।
लद्धान पुब्बापरियं विसेसं, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे॥

– जिसका शरीर अडोल है, चित्त अडोल है, ऐसा साधक खड़े, बैठे अथवा लेटे शरीर की इन तीनों अवस्थाओं में स्मृतिमान हुआ, अधिष्ठान में स्थित है, वह मार्ग के आरंभ से लेकर अंत तक के पूर्वापर विशिष्ट फलों को प्राप्त कर लेता है। ऐसे परम श्रेष्ठ फल प्राप्त कर, उच्चतम निर्वाणिक अवस्था में स्थित हुआ साधक मृत्युराज की दृष्टि से ओझल हो जाता है, याने उस अवस्था में जा स्थित होता है, जहां मृत्यु नहीं है; अमृत है।

आओ, भगवान के इन उदान वचनों में विपश्यना साधना के अभ्यास से संबंध रखने वाले शब्दों का दर्शन करें!

'मौन' विपश्यना साधना का एक आवश्यक अंग है। विपश्यी साधक को मौन-व्रत रख कर ही साधना के अभ्यास में लग जाना होता है। केवल वाणी का ही नहीं, बल्कि शरीर और मन के 'मौन' का भी अभ्यास करना होता है। यह आर्य-मौन का अभ्यास कहलाता है। वाचाल मन अनार्य याने दुष्प्रज्ञ होता है। मन वाचाल हो, दुष्प्रज्ञ हो और केवल वाणी मौन रहे तो कोई मुनि नहीं बन

पाता। आर्य-मौन का अभ्यास ही मौन-पथ की शिक्षा है जो हमें सही माने में मुनि बनाती है और परमपद का साक्षात्कार करवाती है। भगवान ने 'मुनि' की व्याख्या करते हुए कहा;

यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति यानी जो इहलोक और परलोक दोनों को माप लेता है, वह मुनि कहलाता है। यहां 'मुनाति' का अर्थ मापना है, यानी जो साधना के अभ्यास में पूरे पथ को माप लेता है, अंतिम छोर तक पहुँच जाता है। अभ्यास का पथ आंतरिक अनुभूतियों के द्वारा मापा जाता है। इहलोक और परलोक याने कामलोक और ब्रह्मलोक का सारा क्षेत्र इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर समाया हुआ है। यहीं साधक लोकों की उत्पत्ति और लोकों के निरोध की अनुभूति करता है और यहीं लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार भी। साधना के अभ्यास के दौरान निरय-लोक की नारकीय यंत्रणाओं से लेकर काम-लोकों की दिव्य अनुभूतियों और तदनंतर सरूप ब्रह्मलोक से लेकर भवाग्र तक के अरूप ब्रह्मलोक तक की ब्राह्मी अनुभूतियों का मार्ग पार करके जब साधक भवातीत, लोकातीत, इंद्रियातीत, नाम-रूपातीत अक्षय-निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है, तभी **यो मुनाति उभो लोके** होता है और तभी **मुनि तेन पवुच्चति** यानी मुनि कहलाता है। सभी लोकों को मापने का काम अधिचित्त में याने ऊंची समाधियों में समाहित होते हुए अप्रमत्त बने रहने में पूरा होता है। तभी **लभेथ पुब्बापरियं** यानी मार्ग के आदि से अंत तक के सभी पूर्वापर अनुभव प्राप्त करता हुआ **विसेसं** यानी विशिष्ट की, लोकोत्तर निर्वाण की उपलब्धि कर लेता है। यही साधक का **मोनपथेसु सिक्खतो** होना है, यानी मुनियों के मौन-पथ में सुशिक्षित होना है।

जो मौन-पथ में सुशिक्षित होता है, उसे **सदा सतीमतो** होना नितांत आवश्यक है। **सदा सतीमतो** माने सतत स्मृतिमान, सर्वदा अप्रमत्त, जागरूक। साधक का जितना समय प्रमाद में बीतता है उतनी देर मन वाचाल या प्रसुप्त रहता है। सति (स्मृति) तभी सम्यक होती है जब संप्रज्ञान साथ होता है, और संप्रज्ञान तभी सही संप्रज्ञान होता है जब वह सतत बना रहे। सातत्य बना रहे तो साधक सजग-मौन हो जाता है। उपशांत और वीतशोक हो जाता है।

मन वाचाल होकर क्या करता है? अनुभूत संवेदनाओं की परस्पर तुलना करता है, उनका मूल्यांकन करता है और प्रतिक्रियास्वरूप नए कर्म संस्कार उत्पन्न करता है। किन्हीं संवेदनाओं को नारकीय मान कर उनसे द्वेष और किन्हीं को ब्राह्मी मान कर उनसे राग करता है। मन मौन रहता है तो राग-द्वेष उत्पन्न करने वाला मूल्यांकन बंद होता है। स्थितप्रज्ञ होता है। तोलता है तो प्रज्ञा की

तुला पर ही। परित्याग करता है तो राग-द्वेष रूपी पापों का ही और ग्रहण करता है तो समता तथा अनासक्ति रूपी धर्म-सार को ही। इस प्रकार वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह होता हुआ सभी लोकों से परे लोकातीत तक जा पहुँचता है।

मन को पूर्ण मौन बनाने के अभ्यास के पूर्व वाणी और शरीर को मौन करना अत्यंत आवश्यक है। वाणी वाचाल रहे और काया अस्थिर रहे तो मन चंचल रहता ही है और मन चंचल रहे तो अधिचित्त की आध्यात्मिक ऊंचाइयां प्राप्त करना असंभव है। इसीलिए काया, वाणी और चित्त तीनों का मौन याने आर्य-मौन आवश्यक है। साधक पहले वाणी के मौन का व्रत लेता है और **ठितेन कायेन** में **अधिट्ठहानो** होता है याने कायिक अधिष्ठान का अभ्यास करता है। निश्चित समय के लिए शरीर अचल-अडोल रखता है। साथ ही साथ क्रमशः क्षण-क्षण उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहता हुआ मन को मौन बनाने का याने अचल-अडोल बनाने का अभ्यास करता है। इस प्रकार **ठितेन चेतसा** हो **एतं सतिं अधिट्ठहानो** होता है। यह अधिष्ठान की साधना विपश्यी साधक के लिए अपरिहार्य है। इसी अभ्यास द्वारा मुक्ति का मार्ग शीघ्रता से मापा जाता है।

विपश्यना साधना में शैल-पर्वत के समान **अचलो सुपतिट्ठितो** होने का बहुत महत्त्व है। इसीलिए अधिष्ठान का अभ्यास है। अभ्यास के दौरान जितनी देर शरीर अचल रहे उतना ही अच्छा। यही कारण है कि विपश्यना के अभ्यास में चलने-फिरने आदि के स्थान पर **तिट्ठो निसिन्नो उद वा सयानो** को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। वैसे जागरूकता का अभ्यास चलते-फिरते भी किया ही जाता है और विपश्यी साधक को करना भी चाहिए। जब-जब नैसर्गिक आवश्यकताओं के लिए चलने-फिरने, खाने-पीने, नहाने-धोने आदि के शारीरिक क्रिया-कलाप हों, तब-तब उन उन स्थूल क्रियाओं के प्रति तो जागरूकता रखनी ही चाहिए; साथ-साथ भीतर की सूक्ष्म संवेदनाओं और उनके उदय-व्यय स्वभाव की भी जानकारी बनाए रखनी चाहिए। यह सच है कि अधिष्ठान में अचल बैठे रहने पर साधक अपने अंतरतम की जितनी सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति कर सकता है, उतनी हिलते-डुलते नहीं; फिर भी अभ्यास द्वारा चलते-फिरते, खाते-पीते भी कुछ-एक संवेदनाओं का बोध हो ही सकता है। अतः बाहरी स्थूल क्रिया-कलापों के साथ-साथ भीतरी संवेदनाओं को भी जितनी बन पड़े, उतनी जानते रहना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि महज स्थूल-क्रियाओं के प्रति जागरूकता का लंबा अभ्यास उन सूक्ष्म-संवेदनाओं को अनुभव कर सकने की

क्षमता ही लुप्त कर दे। विपश्यना साधना में सारे शरीर में होने वाली सूक्ष्मतम संवेदनाओं के प्रति **सदा सतीमतो** होना आवश्यक है। इसीलिए अधिक से अधिक समय अधिष्ठान का अभ्यास ही उपयोगी माना जाता है। अधिष्ठान बैठे, खड़े या लेटे ही हो सकता है, चलते-फिरते या खाते-पीते नहीं; क्योंकि अधिष्ठान में हलन-चलन बिल्कुल बंद हो जाता है।

इन तीनों में भी बैठने की अवस्था अभ्यास के लिए अधिक उपयोगी है; इसलिए जहां तक हो सके, बैठे रह कर ही अभ्यास करने पर बल दिया जाता है। प्रस्तुत तीन उदानों में ही नहीं, इस तरह के जितने भी उदान उपलब्ध हैं, उन सब में हम देखते हैं कि भगवान ने किसी साधक को **निसिन्नो होति** ही देखा यानी बैठे हुए ही देखा। चलते-फिरते का तो प्रश्न ही नहीं; खड़े या लेटे भी नहीं। और बैठना भी सब का एक ही प्रकार है। **पल्लङ्कं आभुजित्वा** याने पांव मोड़ कर पालथी मार कर। पांव मोड़ने का अर्थ पद्मासन या अन्य कोई विशिष्ट आसन लगाना नहीं है। कोई साधक पद्मासन लगा कर बैठना चाहे तो भले बैठे, परंतु यह अनिवार्य नहीं है। प्रत्येक साधक को अपनी-अपनी सुविधानुसार पांव मोड़ कर सुखपूर्वक पालथी मार कर बैठना चाहिए। पड़ोसी देश में विपश्यना साधना की जो परंपरा पहुँची और जो अब तक कायम है, उसमें पद्मासन अथवा अन्य किसी विशेष आसन के लिए कोई आग्रह नहीं है।

हम देखते हैं कि इस **निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा** के साथ-साथ सर्वदा **उजुं कायं** शब्द का प्रयोग हुआ है। अभ्यास की परंपरा में इसका भी बड़ा महत्त्व है। पालथी मार कर बैठने पर कमर, पीठ और गर्दन सीधी हो तो ही ऋजुकाय होती है। काया सीधी रखने का अर्थ कोई अकड़न पैदा कर लेना नहीं है। बिना कृत्रिम तनाव के काया सीधी रखनी चाहिए; जैसे हैंगर पर टंगी हुई कमीज बिल्कुल सीधी होती है, पर उसमें अकड़न नहीं होती।

अधिट्ठहानो यानी अधिष्ठान का अभ्यास करते हुए साधक को **यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो** शैल-पर्वत की तरह अचल-अडोल रहना होता है। **ठितेन कायेन** की इस अधिष्ठान अवस्था में **सदा सतीमतो** रहते हुए **लभेथ पुब्बापरियं** पूर्वापर की विभिन्न अनुभूतियों को **ठितेन चेतसा** अडोल चित्त से स्वीकारना होता है यानी क्षण-क्षण उत्पन्न और नष्ट होने वाली शरीर और चित्त की अवस्थाओं को महज साक्षीभाव से देखते हुए, उदय-व्यय और भंग-स्वभाव वाली नश्वरता की अनुभूति करते हुए संस्कार-उपेक्षा में स्थित होना होता है, जिससे नए संस्कार बनने बंद हो जायँ और पुराने क्षीण होने लगें। इस अभ्यास द्वारा सतत जागरूकता रखते हुए स्वतः ऐसी अवस्था आती है, जब साधक

भवाग्र से परे भवातीत, लोकाग्र से परे लोकातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। यह अवस्था इंद्रियातीत है। जितने क्षण निर्वाण का साक्षात्कार चलता है, उतनी देर आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर की त्वचा और मन का पूर्णतया निरोध हुआ रहता है। यही अवस्था **मोहक्खया** पूर्ण मोह-क्षय की अवस्था है। इस अवस्था में **भिक्खू** यानी साधक **पब्बतो व न वेधती** पर्वत की तरह अडोल हो जाता है। अधिष्ठान का अभ्यास करते समय तो साधक स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा अपने शरीर को अडोल बनाता है। परंतु इस भवातीत, लोकातीत, इंद्रियातीत अवस्था में शरीर स्वतः अडोल हो जाता है। सही माने में **पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो** शैल-पर्वत की तरह अचल हो जाता है। अक्सर यह देखा गया है कि कोई बलिष्ठ व्यक्ति अपना पूरा बल लगा कर भी उस निर्वाणिक अवस्था में पहुँचे हुए साधक का हाथ-पांव खोलना चाहे तो असफल होता है। अंग-प्रत्यंग ऐसे दृढ़ हो जाते हैं जैसे वेल्डिंग द्वारा परस्पर जुड़ गये हों। और फिर भी यह जड़-समाधि नहीं होती, क्योंकि भीतर से साधक प्रतिक्षण जागरूक रहता है, सचेत रहता है। हां, किसी के द्वारा उसके शरीर को स्पर्श किये जाने की चेतना उसे नहीं रहती; क्योंकि इंद्रियातीत अवस्था में उसकी चेतना का आलंबन कोई एएंद्रिय विषय नहीं हो सकता, बल्कि उससे परे इंद्रियातीत निर्वाण होता है। कई घंटों तक ऐसी अचल, अडोल निर्वाणिक अवस्था में बैठे रहने के बाद जब साधक एएंद्रिय क्षेत्र में पुनः प्रवेश करता है तो फूल की पंखुड़ी की तरह हल्का होकर उठता है। शरीर में कहीं कोई पीड़ा नहीं, अकड़न नहीं, मूर्च्छा नहीं। कषायों के अपरिमित बोझ से मुक्त हुआ साधक हल्कापन ही महसूस करता है।

मृत्युराज की गति उदय-व्यय के स्वभाव वाले तरंगीय क्षेत्र तक ही सीमित है जो कि एएंद्रिय क्षेत्र है, इहलोक और परलोक का क्षेत्र है; परंतु विपश्यी मुनि-साधक इन दोनों को माप कर आगे निकल जाता है और इसके परे अनुदय, अव्यय, तरंगातीत स्वभाव वाले **अजात अभूत अमत असङ्खत** निर्वाणिक क्षेत्र को प्राप्त करता है। उस क्षेत्र को, जो कि **अदस्सनं मच्चुराजस्स** यानी मृत्युराज के लिए अदर्शनीय है। जो मृत्युराज के लिए अदर्शनीय है, वह विपश्यी साधक के लिए दर्शनीय हो जाता है।

उदान-वाणी का अर्थ यह भी है कि वह वाणी जो हमारे भीतर उदात्त भावों का प्रजनन कर हमारे उत्कर्ष में सहायक हो। इस अर्थ में उदान उद्बोधन शब्द का पर्यायवाची है। भगवान के ये उदान वचन हमारे लिए सही माने में उद्बोधन का काम करें, हम इनकी शाब्दिक व्याख्या सुन-समझ कर ही न रह

जायँ, बल्कि इनसे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर विपश्यना के वास्तविक अभ्यास में लगें। हम भी मौन का अभ्यास करें। आर्य-मौन का। समय-समय पर अधिष्ठान का अभ्यास करें और स्मृति-संप्रज्ञान के इस अभ्यास में सातत्य बढ़ाते हुए काया और चित्त को शैल-सदृश अविचल बना कर अधिष्ठित करें, जिससे परम-पद निर्वाण का साक्षात्कार कर सकें।

हमारा मंगल हमसे यही अपेक्षा करता है।

------

५. आर्य-मौन

एक पुरानी कथा है।

दो हंस और एक कछुआ किसी तालाब के किनारे रहते थे। हंस समझदार थे। अक्सर चुप रहते। जब जरूरी होता, तभी बोलते थे। सो भी बहुत कम। कछुआ मूर्ख था। दिन भर बक-बक करता रहता। मतलब-बेमतलब की हजार बातों में उलझा रहता।

एक दिन हंस अपने देश मानसरोवर लौटने की तैयारी करने लगे। कछुए ने जाना तो गिडगिडा कर बोला, "मुझे भी ले चलो। मानसरोवर का बड़ा नाम सुना है।"

हंस नहीं माने। बोले, "हमारे देश के लोग मौन-प्रिय हैं। तुम दिन भर बकवास करने वाले वहां निभ न सकोगे।"

कछुए ने वादा किया, वह पूर्ण मौन-व्रत पालेगा, उसे अवश्य ले चलें। हंस इस वादे पर राजी हुए। उन्होंने एक लकड़ी ली और कछुए से कहा कि इसे बीचोबीच अपने दांतों से कस कर पकड़ ले। इसके बाद दोनों ने उस लकड़ी के दोनों छोर अपनी-अपनी चोंच में दबाए और उड़ चले। लकड़ी के बीच झूलता हुआ कछुआ भी साथ-साथ उड़ चला। कछुए को आसमान की यह सैर बहुत भली लगी। वह हंसों को बताना चाहता था कि कितना खुश है। बोलना चाहता था, पर तभी मौन-व्रत याद आया और चुप रह गया।

तीन मित्रों की यह टोली आगे बढ़ती गई। हंस उड़ते गये, उड़ते गये। उड़ते-उड़ते एक गांव पर से गुजरे। गांव के लोगों ने देखा तो आपस में बातचीत करने लगे – "देखो, कैसी विचित्र बात है। दो हंस एक मुर्दे कछुए को उड़ाए लिए जा रहे हैं।"

अब तक कछुआ मौन रहा। पर यह सुन कर तिलमिला उठा। बातूनी जीव से रहा न गया। चुप्पी बरदाश्त न हो सकी। चीख कर बोला, "मैं मुर्दा नहीं, जिंदा हूं, जिंदा।" मुँह खुलते ही लकड़ी दांतों से छूट गई और वह धड़ाम से पृथ्वी पर आ गिरा। हड्डी-पसली चूर-चूर हो गई। अब सचमुच जिंदे से मुर्दा हो गया।

यह बोधकथा बातूनी लोगों के लिए है, जिससे कि वे मौन का महत्त्व समझें। साधकों के लिए मौन-पालन, साधना की सफलता के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। साधना शिविरों में जब वे अभ्यास के लिए आते हैं, तो उन्हें खूब सतर्क रह कर परस्पर बातचीत न करने का व्रत पालना चाहिए। अपने कल्याण-मित्र से भी बोलें तो वह साधना की अभ्यास-संबंधी ही बात हो और वह भी इतनी ही जितनी कि नितांत आवश्यक हो, सार्थक हो। निरर्थक बातों में कदापि न लगें। अपना अमूल्य समय जरा-सा भी न गँवाएं।

भगवान बुद्ध अनमोल समय के सदुपयोग के पक्षधर थे। निकम्मी बातों में समय गँवाने का सदा विरोध करते थे। कोई भाई उनके पास आया है और कहता है;

"भगवन! आप बार-बार दुख और दुख-विमुक्ति पर ही बोलते हैं। कृपया यह तो बताइये कि यह दुख होता किसे है? और दुखों से विमुक्ति होती किसकी है?"

करने वाले ने निरर्थक प्रश्न किया। पर भगवान ऐसी निरर्थक चर्चा में उलझने वाले नहीं थे। बड़े प्यार से समझाते हुए बोले, "अरे भाई! तुम्हें प्रश्न करना ही नहीं आया। प्रश्न यह नहीं करना चाहिए था कि दुख "किसे" होता है, बल्कि यह करना चाहिए था कि "क्यों" होता है? प्रश्न यह नहीं करना चाहिए था कि दुख से विमुक्ति "किसको" होती है; पर करना यह चाहिए था कि "कैसे" होती है?

सार्थक बात, मतलब की बात यही है कि दुख से छुटकारा पाएं और इसके लिए जानना यह आवश्यक है कि दुख का कारण क्या है? और उसका निवारण क्या है? इसे छोड़ अन्य सभी चर्चाएं निकम्मी, निरर्थक नहीं तो और क्या हैं?

कभी कोई भाई उनसे पूछ बैठता, "भगवान! बतायें इस संसार को किसने बनाया?"

तो फिर प्यार से समझाते, "अरे भाई! किसी विष-बुझे तीर से घायल व्यक्ति को यह जानना कतई आवश्यक नहीं कि तीर किसने बनाया? उसके लिए आवश्यक यही है कि जिस तीर से वह घायल है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र निकाल बाहर करे, जिससे कि पीड़ा-मुक्त हो, दुख-मुक्त हो।"

कितना छोटा-सा जीवन है मनुष्य का। इसे इन दार्शनिकों की तरह महज बुद्धिरंजन में, बुद्धिकिलोल में बिता दें, यह कितनी नासमझी है!

विस्मय-विभोर होकर जिज्ञासा-पूर्ति में और कौतूहल-मंगल के भिन्न-भिन्न खेल खेलने में बिता दे, यह कितनी नादानी है! किसी महाकारुणिक सम्यक संबुद्ध को यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है! मनुष्य जीवन का उचित से उचित और अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिए। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह न केवल बौद्धिक स्तर पर अपने दुखों के कारण और उनके निवारण को समझ सकता है बल्कि साक्षात्कार के स्तर पर उनका स्वयं दर्शन कर नितांत दुख-विमुक्त भी हो सकता है, निर्वाण-लाभी भी हो सकता है। पशु-पक्षी या किसी अन्य निम्न श्रेणी के प्राणी के लिए यह शक्य नहीं, संभव नहीं। इस अनूठी विशेषता का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए; इसीलिए भगवान तथागत न स्वयं निरर्थक बातों में उलझते, न किसी साधक को उलझने देते थे। सदा मतलब की ही बात करते थे।

एक दिन भिक्षुओं के साथ जंगल के एक वृक्ष की छांह में बैठे हुए उन्होंने धरती पर पड़े मुट्ठीभर पत्ते हाथ में लिये और जंगल के पेड़ों की ओर इशारा करते हुए कहा कि जैसे इस महावन के समस्त वृक्षों पर लगे कुल पत्ते अनगिनत हैं, वैसे ही जिस व्यक्ति को सम्यक संबोधि प्राप्त हो जाय उसकी जानकारी अपरिमित होती है। लेकिन वह नासमझी में पड़ कर अपनी सारी जानकारी लोगों तक पहुँचाने की भूल नहीं करता। उनका और अपना समय व्यर्थ नष्ट नहीं करता। वह थोड़ी ही बात करता है जो कि काम की होती है, जैसे कि पेड़ों पर लगे अनगिनत पत्तों के मुकाबले यह मुट्ठी भर पत्ते। जो काम की बात है, उसे वह छिपाता नहीं और जो निकम्मी बात है, उसे जबान पर लाकर लोगों को उलझाता नहीं।

इसीलिए भगवान अपने साधना-विहारों में साधकों को भी सदा निरर्थक बातों से दूर रहने का उपदेश देते थे। जब कभी देखते कि भिक्षु-साधक बैठे गप्पें लड़ा रहे हैं, राज्य-कथा, चोर-कथा, शिल्प-कथा, वाणिज्य-कथा, वैभव-कथा आदि में उलझ रहे हैं तो उन्हें प्यार से डांटते और समझाते कि श्रद्धापूर्वक घर से बेघर हो जिस काम के लिए यहां आए हो, उसमें लगो, निरर्थक बातों में नहीं। उन्होंने ऐसे बातूनी साधक-भिक्षुओं को फटकारते हुए अनेक बार कहा;

सन्निपतितानं वो, भिक्खवे, द्वयं करणीयं। धम्मी वा कथा, अरियो वा तुण्ही भावो।

यानी इकट्ठे बैठने पर, भिक्षुओ! तुम्हें दो ही काम करने चाहिए; धर्म-कथा अथवा आर्य-मौन।

धर्म-कथा माने मतलब की कथा। ऐसी बातें जिनसे शुद्ध-धर्म जागे और अपना मतलब सधे। सही मतलब सधे। साधना के लिए आकर बेमतलब की बातों में समय न गँवा बैठें। कल्याणमित्र से भी बातचीत करनी हो तो केवल धर्म-कथा करनी चाहिए। ऐसी धर्म-कथा जैसे 'अल्पेच्छ-कथा, संतुष्टि-कथा, प्रविवेक-कथा, पुरुषार्थ-कथा, असंसर्ग-कथा, शील-कथा, समाधि-कथा, प्रज्ञा-कथा, विमुक्ति-कथा, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-कथा'। ऐसी धर्म-कथा जो 'चित्त के आवरण को दूर करने वाली हो, दुख का नितांत उन्मूलन करने वाली हो, विकारों का पूर्ण विराग, निरोध उपशमन करने वाली हो, अभिज्ञा, संबोधि, निर्वाण दिलाने वाली हो'; ऐसी कथा जिससे 'साधक निर्मलतालाभी हो, सुखलाभी हो, शांतिलाभी हो।'

उसी स्वस्थ परंपरा को निबाहते हुए आज भी विपश्यना शिविरों में इस बात पर जोर दिया जाता है कि जब कभी अपने कल्याणमित्र से चर्चा करनी हो तो वह सार्थक होनी चाहिए, निरर्थक नहीं। धर्म-कथा होनी चाहिए, बुद्धिकिलोलनी-कथा नहीं, वाद-विवादिनी-कथा नहीं। बाकी सारे समय तो **अरियो वा तुण्ही भावो** यानी 'आर्य-मौन' ही पालना चाहिए।

आर्य-मौन माने केवल वाणी का ही मौन नहीं, शरीर और मन का भी मौन। वाणी का मौन तो नितांत आवश्यक है ही। इसीलिए मौन-व्रत दिया जाता है। अन्यथा निरर्थक बातें कर-कर के समय ही नहीं खो देंगे, जाने-अनजाने असत्य बोल जाएंगे तो जो पांच शील लिए हैं, उनमें से एक भंग कर लेंगे, और जहां शील भंग होगा वहां साधना-भवन की नींव कमजोर पड़ जाएगी। इतना ही नहीं, बात करेंगे तो शिविर में सम्मिलित हुए अन्य साधकों का ध्यान भंग कर के अकुशल आसुरी कर्म के दोषी बनेंगे। औरों की हानि करेंगे। अपनी भी हानि करेंगे। विपश्यना-मार्ग का नए से नया पथिक भी इस सच्चाई को शीघ्र देखने लगता है कि उसका मन कितना वाचाल है, कितना बातूनी है। भीतर ही भीतर सदैव कुछ न कुछ बोलता रहता है। कभी कोई मतलब की, पर अक्सर बेमतलब की ऊल-जलूल बात बोलता ही रहता है। कुछ देर की बातचीत के बाद साधक जब ध्यान में बैठता है तो देखता है कि उसके इस बातूनी मन को और अधिक चारा मिल गया है। अब वह देर तक उसी चर्बित चबैने की जुगाली करने लगा है। मौन होने का नाम तक नहीं लेता।

वाणी से मौन रहते हुए साधक काया को भी मौन रखने का अभ्यास करे। काया का मौन कैसे भंग होता है? वाणी का मौन व्रत लेकर साधक अक्सर अपने शरीर के जरिए बातचीत करता है। हाथों, आंखों अथवा शरीर के अन्य अंगों को हिला डुला कर इशारों में बातें करता है। कभी-कभी जुबान हिलाए बिना, होठ खोले बिना "ऊं ^ आं" की खग-भाषा में वार्त्तालाप करता है। कभी-कभी इससे भी आगे बढ़ता है तो कागज-पेंसिल लेकर लिख-पढ़ कर बातचीत कर लेता है। यह सब शरीर द्वारा मौन भंग करना हुआ जो कि वाणी के मौन-भंग से किसी प्रकार भी कम हानिकारक नहीं है। शरीर के मौन का अभ्यास करने वाला साधक इन सब से बचे। शरीर के पूर्ण मौन का अभ्यास करने के लिए साधक बिना हिले-डुले बार-बार अधिष्ठान में बैठे। अधिष्ठित होकर बैठने के अतिरिक्त जब कभी नैसर्गिक आवश्यकताओं के लिए लेटने, उठने, नहाने-धोने, खाने-पीने, चलने-फिरने की कोई शारीरिक हलन-चलन करनी पड़े तो उसके प्रति पूर्ण जागरूक रहने का अभ्यास करे। शरीर की हर हरकत सचेत रह कर करे। यही शारीरिक मौन का अभ्यास है।

मन को मौन रखने का अभ्यास भी उसे जागरूक रख कर ही किया जाता है। किसी भौतिक अथवा आध्यात्मिक नशे द्वारा उसे प्रसुप्त करके नहीं, बल्कि यथार्थ के प्रति सतत सचेत रखते हुए।

यही **अरियो तुण्ही भावो** है, यानी आर्य-मौन है, जिसका पहला कदम वाणी के मौन से आरंभ होता है। जो वाणी का मौन ही नहीं रख सकता, याने आर्य-मौन का पहला कदम ही नहीं उठा सकता, वह आगे के दोनों कदम कैसे उठा पाएगा? याने शरीर और मन का मौन कैसे निभा पाएगा? जो वाणी से वाचाल होगा, वह शरीर से उद्धत, उद्दंड होगा ही और मन से स्मृतिविहीन तथा मोह-विमूढ़ित होगा ही।

एक बार भगवान कुशीनगर के शालवन में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि कुछ एक भिक्षु भगवान से अति दूर अन्य कुटियों में निवास करते हुए अत्यंत उद्धत, उद्दंड चपल हैं; क्योंकि मुखर, वाचाल, बातूनी हैं; बतरस-लोभी हैं। इधर-उधर की गप्पें हांकने वाले हैं और इसलिए प्रमत्त हैं, स्मृतिविभ्रम हैं, मोह-मूढ़ता में निमग्न हैं, बेहोश हैं, अस्थिर चित्त हैं, भ्रांतचित्त हैं और गुप्तद्रिय होने के बजाय प्रकटेंद्रिय हैं, यानी इंद्रियों के प्रति संयमित रहने के बजाय नितांत असंयमित हैं। इन बतरस चटोरों की यह

दयनीय शारीरिक और मानसिक दशा देख कर ही भगवान ने उस समय उदान के ये शब्द कहे;

अरक्खितेन कायेन मिच्छादिट्ठिहतेन च।
थीनमिद्धाभिभूतेन वसं मारस्स गच्छति॥

– मूढ़ व्यक्ति कायिक संयम को खोए हुए, मिथ्या दृष्टियों में उलझे हुए, आलस्य में डूबे हुए मृत्युराज के वश में जा रहा है।

तस्मा रक्खितचित्तस्स सम्मासङ्कप्पगोचरो।
सम्मादिट्ठिपुरेक्खारो ञत्वान उदयब्बयं।
थीनमिद्धाभिभू भिक्खू सब्बा दुग्गतियो जहे॥

– इसलिए चित्त को वश में रखने वाला, सम्यक संकल्प का अभ्यासी, सम्यक दर्शन में श्रद्धापूर्वक लगा हुआ, अपने भीतर संवेदनाओं के उत्पाद-व्यय की सम्यक विपश्यना करने वाला साधक निरालस-अप्रमादी होकर सभी दुर्गतियों से छुटकारा ले।

पता नहीं भगवान के इन प्रताड़ना-भरे उदान वचनों से उन प्रमादी भिक्षुओं पर क्या असर पड़ा। तत्संबंधी वाङ्मय इस संबंध में मौन है, परंतु हम अन्यत्र देखते हैं कि भगवान की धर्म-फटकार का साधकों पर बिजली का-सा असर होता था। वे सचेत होकर सन्मार्ग में लग जाते थे।

त्रिपिटक में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें शांतिप्रिय भगवान तथागत ने कोलाहल करने वाले भिक्षुओं को अपने साधना केंद्र से निकाल बाहर किया। एक बार तो स्वयं धर्मसेनापति सारिपुत्त को अपने अनेक साथियों सहित इस अनुशासन-भरे निष्कासन का शिकार होना पड़ा था, जो उन सब के कल्याण का कारण बना।

एक अन्य अवसर पर हम देखते हैं कि भगवान जेतवन के अनाथपिंडिक संघाराम में विहार कर रहे हैं। तब श्रवण यशोज के नेतृत्व में पांच सौ भिक्षु भगवान से मिलने आए हैं। ये नवागत भिक्षु स्थानीय भिक्षुओं को नमस्कार करते हुए, अपने लिए सोने-बिछौने का प्रबंध करते हुए और साथ लाए हुए भिक्षा-पात्रों और चीवरों को इधर-उधर रखते हुए उच्च शब्द, महाशब्द कर रहे थे। मौन-प्रेमी भगवान तथागत ने जब मछुओं के से हल्ले-गुल्ले का यह शोर-शराबा सुना तो इन भिक्षुओं को पास बुला कर डांटते

हुए आज्ञा दी, “निकल जाओ यहां से! तुम लोग मेरे पास रहने योग्य नहीं हो।”

यशोज सहित सभी भिक्षु भगवान को अभिवादन कर संघाराम के बाहर आये। वे कोशल प्रदेश से चल कर वज्जिय देश की यात्रा पूरी करते हुए वग्गुमूदा नदी के तीर पर पर्णकुटी बना कर रहने लगे। वहीं आयुष्मान यशोज ने अपने साथियों को एकत्र करके कहा, “भगवान ने हमें जो दंड दिया है, वह हम पर उनकी अनुकंपा ही है। वह हमारे हित-सुख के लिए ही है। आओ, ऐसा करें जिससे भगवान हम पर प्रसन्न हों।”

और वे सब के सब, अपनी पिछली भूल से सबक लेते हुए, पूर्ण मौन का पालन करते हुए, अप्रमत्त हो साधना में लग गये। कुछ दिनों में ही वे सब कृत-कृत्य हुए, प्राप्त-प्राप्य हुए; जिसे पाने के लिए घर से बेघर हुए थे, उसे प्राप्त करने में सफल हुए। उन महामुनि के मौन-पथ का सम्यक अनुसरण कर निहाल हुए, निर्वाणलाभी हुए। सचमुच आर्य-मौन विपश्यी साधकों का अनमोल आभूषण है।

प्रकृति ने हमें दो कान दिये हैं, पर मुँह एक ही। इसका अर्थ हुआ सुनें अधिक, बोलें कम। प्रकृति ने दोनों कान स्वभाव से खुले रखे हैं और मुँह स्वभाव से बंद। यानी सुनने पर कोई रोक नहीं, पर बोलने पर पूरी रोक। जब बोलना अत्यंत अनिवार्य हो जाय, तो ही मुँह खोलें। अत्यंत आवश्यक हो, उतनी ही बात करें। केवल काम की बात, मतलब की बात, धर्म की बात, अन्यथा मौन। पूर्ण मौन। आर्य मौन।

धन्य हैं वे साधक, जो भगवान की चेतावनी-भरी उदान-वाणी को हृदयंगम कर मौन-व्रती हुए, साधनारत हुए और जीवन्मुक्त हुए। आओ, हम भी उस चिर-कल्याणी वाणी से लाभान्वित हों, उद्‌बोधित हों, सतत अभ्यास-रत हों और मंगललाभी हों। आओ, हम भी आर्य-मौन का अभ्यास करें। मौन रहने में हमारा शरीर इतना सध जाय कि हमसे कोई कायिक दुष्कर्म हो ही न सके। मौन रहने में हमारी वाणी इतनी सध जाय कि हमसे कोई वाचिक दुष्कर्म हो ही न सके। मौन रहने में हमारा मन इतना सध जाय कि हमसे कोई मानसिक दुष्कर्म हो ही न सके।

परम-मंगल की उपलब्धि का यही एकमात्र मंगल-मार्ग है।

६. सूक्ष्म-दर्शन

श्रमण आनंद वर्षों भगवान बुद्ध के उपस्थाक (निजी सहायक) रहे। उनसे पूर्व समय-समय पर भगवान की परिचर्या करने के लिए कई अन्य लोग इस पद पर नियुक्त किये जाते रहे। उनमें से एक था भिक्षु मेघिय।

एक बार जब भगवान चालिका पर्वत पर विहार कर रहे थे, भिक्षु मेघिय भगवान की अनुज्ञा लेकर जंतु ग्राम में भिक्षाटन के लिए गया। लौटते हुए वह किमकाळा नदी के किनारे एक मनोरम आम्रवन में से गुजरा। उसने देखा चारों ओर हरियाली ही हरियाली है। तरु-तृण, कुड्मल-किसलय, विपिन-वल्लरी पर प्रकृति की नयनाभिराम सुषमा छायी हुई है। सारे वनप्रदेश में पल्लव-परिमल की, प्रफुल्ल कुसुमों की मीठी महक गमक रही है। रसीले-गदराए फलों से लथपथ आम्र-शाखाएं बिना चखे ही जीभ को मीठे स्वाद और लार से भर देती हैं। भौरों के गुंजन और खगकुल के कलरव के साथ-साथ किमकाळा नदिया का कर्णमधुर कल-कल निनाद सारे वातावरण को दिव्य संगीत से भर रहा है। शीतल-मंद समीर शरीर का स्पर्श करती है तो उसे पुलक-सिहरन से हर्ष-विभोर कर देती है। सर्वत्र निसर्ग का सौंदर्य-शृंगार बिखरा है। सभी कुछ अत्यंत रमणीय, अत्यंत मनोज्ञ, अत्यंत मनोहारी है।

मेघिय को लगा कि यह स्थान ध्यान-भावना (साधना) के लिए अत्यंत उपयुक्त है। भगवान से आज्ञा लेकर यहां अभ्यास करूं। भगवान के पास जाकर आज्ञा मांगी तो भगवान ने रोका। मेघिय को यह रोकना अच्छा न लगा।

ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखने वाले सभी स्थान ध्यान-भावना के उपयुक्त ही हों, यह आवश्यक नहीं है। इस विषय के मर्मज्ञ अधिकारी व्यक्ति ही इसे जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त मेघिय जैसे नए साधक को प्रारंभिक अवस्था में उचित मार्गदर्शन के लिए किसी अनुभवी कल्याणमित्र के सान्निध्य की भी नितांत आवश्यकता थी। भगवान ने उसे ठीक ही रोका। परंतु भगवान की इच्छा न होने पर भी अति आतुर मेघिय उसी स्थान पर अकेले साधना करने चला गया।

वहां किसी वृक्ष के तले साधना करने बैठा तो उसे यह देख कर बेहद आश्चर्य हुआ कि साधारणतया भगवान के सान्निध्य में ध्यान करने पर उसका मन जितना शांत, स्थिर, सजग, सचेत और विमल-विशुद्ध रहता है, वैसा यहां बिल्कुल नहीं हो रहा। अवश्य ही उस स्थान पर किन्हीं दूषित तरंगों का कुत्सित प्रभाव होगा, जिसके कारण उसके मन में बार-बार कलुषित पाप-तरंगों के संकल्प-विकल्प, वितर्क-विचार उठने लगे। कभी प्रबल काम-तृष्णाओं के वार उठते, तो कभी द्वेष-दौर्मनस्य और घृणा-क्रोध का झंझावात चल पड़ता। उसका समस्त मन-मानस मलीन तरंगों से उद्वेलित, आलोड़ित हो उठा। उसे समझ नहीं आ रहा था कि ऐसी अवस्था में क्या करे? कोई मार्ग-निर्देशक भी तो पास नहीं था। व्याकुल होकर सायंकाल वहां से लौटा और भगवान के पास आकर उन्हें अपनी आप-बीती कह सुनायी।

भगवान ने उस समय उसे जो उपदेश दिया, वह सभी नौसिखिए साधकों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और अनुकरणीय भी। भगवान ने बताया कि जो साधक अभी चित्त-विमुक्ति में परिपक्व नहीं हुआ है, उसके लिए यह पांच साधन अत्यंत अपेक्षित हैं;

[१] उसे चाहिए कि किसी अनुभवी कल्याणमित्र का सान्निध्य और मार्गदर्शन प्राप्त करे।

[२] उसे चाहिए कि अनिवार्यतः शील-पालन करे। किंचित भी शील-भंग होने में अपना घोर अनर्थ माने। शील साधना की आधारशिला है, नींव है। शील परिपक्व हुए बिना कोई साधना में परिपक्व हो नहीं सकता।

[३] उसे चाहिए कि ऐसी धर्म-चर्चा में ही रुचि रखे जो चित्त पर से मैल उतारने में, विषयों से विरक्ति विकर्षण पैदा करने में, दुःखों का नितांत निरोध करने में, विकारों का पूर्ण उपशमन करने में सहायक हो; जैसे अल्पेच्छ-कथा, संतुष्टि-कथा, विवेक-कथा, निःसंग-कथा, पुरुषार्थ-कथा, शील-कथा, समाधि-कथा, प्रज्ञा-कथा और ज्ञान-दर्शन अनावरणीय-कथा। ऐसी धर्म कथाएं जिनसे मार्गदर्शन, प्रेरणा और उत्साह मिले, जिनसे आशंकाएं-विशंकाएं दूर हों, मन स्थिर हो, श्रद्धा बहुल हो, अध्यवसायी हो और परिणामस्वरूप अपवित्रताओं, पीड़ाओं और विकलताओं से छुटकारा पाकर विरज विमल हो।

[४] उसे चाहिए कि वह दृढ़ पुरुषार्थ में लग जाय, अकुशल से मुक्त और कुशल में संपन्न होने के पुरुषार्थ में। साधना के लिए जो विधि

अपने कल्याणमित्र से मिली, उसके अभ्यास में स्थिरता लाए और जब तक चित्त विशुद्धि और विमुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक न पहुँच जाय, तब तक स्वेच्छा से धारण किये हुए अभ्यास के इस कुशल जुए को अपने कंधों पर से उतार न फेंके। दृढ़ पराक्रम में संलग्न रहे, स्थित रहे।

[५] उसे चाहिए कि सुनी-सुनायी श्रुत-प्रज्ञा अथवा तर्क-वितर्क द्वारा प्राप्त चिंतन-प्रज्ञा तक ही सीमित न रह जाय, बल्कि अपने भीतर स्वानुभूतिजन्य भावनामयी प्रज्ञा जगाये। ऐसी कुशाग्र, तीक्ष्ण, बींधनेवाली प्रज्ञा जो स्थूल शरीर-स्कंध और भावावेशविहारी स्थूल चित्त-स्कंध के टुकड़े-टुकड़े करके, उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म सच्चाइयां अनावरित कर दे। क्षण-क्षण उदय और अस्त, उत्पाद और व्यय होने वाली सूक्ष्म सच्चाइयों का दर्शन कराने वाली आर्य-प्रज्ञा ऐसा आलोक जगाये, जिससे कि अज्ञान और अविद्या का सारा कुहरा दूर हो जाय और दुख-क्षय रूपी निर्वाण का स्वतः साक्षात्कार हो जाय।

साधक अपने कल्याणमित्र के सहयोग सहकार द्वारा उपर्युक्त प्रकार अभ्यास करता हुआ अपना कल्याण साधे। भगवान ने आगे कहा कि जब-जब उसकी चित्तधारा पर राग जागे, तब-तब अशुभ भावना याने शरीर की गंदगी की भावना करे। जब-जब द्वेष जागे, तब-तब मंगल मैत्री की; जब-जब विचार-वितर्क जागे, तब-तब आनापान सति याने आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता की; और जब-जब अस्मिताभाव जागे याने अहंकार जागे, तब-तब अनित्य की भावना करे।

यह 'मैं' और 'मेरे' का मिथ्या अहंभाव ही है जो राग और द्वेष पैदा करता है, जिनकी वजह से चित्तधारा पर नाना प्रकार के वितर्क-विचारों और विकृति-विकारों की रेल-पेल चलने लगती है। इसीलिए चित्त-विमुक्ति की साधना में अहंभाव को, आत्मभाव को नष्ट करने पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। इसकी जड़ें उखड़े बिना अन्य विकारों की जड़ें उखड़ नहीं पातीं। इसीलिए **उदयत्थगामिनिया पञ्ञाय समन्नागतो अरियाय निब्बेधिकाय** को इतना महत्त्व दिया गया है। ऐसी बींधने वाली प्रज्ञा को जो उदय-व्यय वाले अनित्य स्वभाव का साक्षात्कार करवाती है। यह अनित्य-संज्ञा प्रबोधनी-प्रज्ञा ही है जो साधक के आत्मभाव पर कुठाराघात करती है। अनित्य-संज्ञी साधक ही अनात्म याने अहंविहीनता की सच्चाइयों में संतिष्ठित, प्रतिष्ठित होता है और अनात्म-संज्ञी ही अस्मिताभाव की सारी अविद्या का समुद्घात करता है,

उसकी जड़ें उखाड़ता है और निर्वाण का साक्षात्कार करता है, यहीं इसी जीवन में।

कितने आश्वासन-भरे शब्दों में इस कल्याणी **अनित्य साधना** की मंगल घोषणा की है भगवान ने;

अनिच्चसञ्ञिनो हि, मेघिय, अनत्तसञ्ञा सण्ठाति अनत्तसञ्ञी अस्मिमानसमुग्घातं पापुणाति दिट्ठेव धम्मे निब्बानं।

हम अनित्य को अनित्य देखते ही तो नहीं। सारा एंद्रिय जगत अनित्य है, पर हम इन पांच इंद्रिय द्वारों पर सदा विषयों का स्वागत करते रहते हैं; नित्य मान कर ही उनका उपभोग करते रहते हैं। कभी कोई मनोहारी रूप देखते हैं, कभी मनोहारी गंध सूंघते हैं, कभी मनोहारी शब्द सुनते हैं, कभी मनोहारी रस चखते हैं, कभी मनोहारी स्पर्श करते हैं और जब कभी आंख मूंद कर साधना में बैठते हैं तो उन उन मनोहारी रूपों, गंधों, शब्दों, रसों और स्पर्शों की मीठी यादें मन में उभरती हैं। कभी किसी रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श की स्वयं अनुभूति न भी की हो, परंतु केवल वर्णन पढ़ा-सुना हो तो उसकी कामना-कल्पना ही चित्तधारा पर उभरने लगती है। चाहे इन मनोज्ञ विषयों की स्वानुभूतिजन्य यादें हों अथवा श्रुतिजन्य कल्पनाएं, पर इनका चिंतन-मनन विषयों के प्रत्यक्ष उपभोग जैसा ही प्रिय लगता है। कोई भी एएंद्रिय विषय इस क्षण उपस्थित नहीं है, केवल उसकी याद है अथवा कल्पना, पर फिर भी चित्तधारा पर उसके चिंतन की **खुद्दक-खुद्दक** याने क्षुद्र-क्षुद्र, नन्हीं-नन्हीं और **सुखुमा-सुखुमा** यानी सूक्ष्म-सूक्ष्म तरंगें उठने लगती हैं। चित्तधारा पर उत्पन्न हुई यह नन्हीं-नन्हीं, सूक्ष्म-सूक्ष्म वितर्क-विचार की तरंगें; शरीर-स्कंध पर नन्हीं-नन्हीं, सूक्ष्म-सूक्ष्म संवेदनाओं की सिहरन पैदा करती हैं, जो हमें अत्यंत प्रिय लगती हैं। सूक्ष्म स्तर पर होने वाले इस पुलक-रोमांच का हम आनंद लेने लगते हैं, इसी से उसके प्रति अधिकाधिक नंदी राग जागता है।

राग-रंजित होकर हम उन सूक्ष्म-सुखद संवेदनाओं का अंधानुकरण करने लगते हैं। उस सुखद अनुभूति में जरा-सी बाधा आए अथवा बाधा आने की जरा-सी आशंका पैदा हो तो मन में बेचैनी जागने लगती है, घबराहट होने लगती है। उस सुख के विरोधी लगने वाले सारे तत्त्व यानी सभी व्यक्ति, वस्तुएं, परिस्थितियां अत्यंत अप्रिय लगने लगती हैं। फलतः उनके प्रति द्वेष-द्रोह जागता है। इस राग-रंजन और द्वेषदूषण से चित्त भ्रांत

हो उठता है। परिणामस्वरूप इधर-उधर दौड़ता है, अशांत होता है। यह सब इसीलिए होता है कि जब-जब शरीर और चित्तधारा पर यह नन्हीं-नन्हीं, सूक्ष्म-सूक्ष्म तरंगें उठती हैं, तब-तब उनके प्रति हम **अविद्वा** रहते हैं याने अवेदनशील रहते हैं, अनजान रहते हैं। कैसे मन राग-रंजित होकर उन तरंगों का अनुगमन करने लगा है? कैसे **उप्पिलावा** यानी उत्फुल्ल-प्रफुल्ल होने लगा है? इसका हमें जरा भी बोध नहीं रहता। इसी के फलस्वरूप बात बढ़ते-बढ़ते इस व्याकुलता की हद तक आ पहुँचती है।

इसे रोकने के लिए ही विपश्यना साधना है। इसीलिए बींधने वाली प्रज्ञा है जो हमें सूक्ष्म अवस्था में उठने वाली इन नन्हीं-नन्हीं तरंगों को अपने सही स्वभाव में देखने योग्य बनाती है और इन्हें अनासक्तभाव से देखना सिखाती है। क्या है इनका सही स्वभाव? यही **उदयत्थ** यानी उदय-अस्त, उत्पाद-व्यय, उत्पन्न-लय। हर तरंग अस्त होने के लिए ही उदय होती है। जब हम इन नन्हीं-नन्हीं तरंगों को उनकी इस अनित्यधर्मा सच्चाई के बोध में देखने लगते हैं तो मिथ्या आनंद से विभोर होकर याने अंधे होकर इनका अनुगमन करने की आदत से छुटकारा पाते हैं। जब इनका अनुगमन नहीं करते तो इन रस-तरंगों को बल नहीं मिलता। ये अपने-आप क्षीण होने लगती हैं। यही सही माने में मन का संवर है, जिसमें कि दमन नहीं है, केवल देखना है, सच्चाई के प्रति जागरूक रहना है, अनित्य स्वभाव के प्रति सचेत, अप्रमत्त रहना है। इस अभ्यास के द्वारा अंधेपन में उत्पन्न हुए सारे विकार सहज ही छूट जाते हैं। विकार-संग्रह से मुक्ति मिलते ही चित्तधारा विरज-विमल हो जाती है। यही विपश्यना साधना का अभ्यास है। इसी ओर संकेत करते हुए भगवान ने उस समय उदान के ये वचन कहे;

खुद्दा वितक्का सुखुमा वितक्का, अनुग्गता मनसो उप्पिलावा।
एते अविद्वा मनसो वितक्के, हुराहुरं धावति भन्तचित्तो।
एते च विद्वा मनसो वितक्के, आतापियो संवरती सतीमा।
अनुग्गते मनसो उप्पिलावे, असेसमेते पजहासि बुद्धो॥

“ये नन्हें-नन्हें वितर्क विचार पैदा होते हैं तो मन इनके पीछे लग जाता है और आनंद से फूल उठता है। इन सूक्ष्म-सूक्ष्म, नन्हें-नन्हें वितर्क-विचारों और इनसे उत्पन्न सूक्ष्म संवेदनाओं के प्रति जब कोई **अविद्वा** याने अवेदनशील याने अनजान रहता है तो चित्त भ्रांत हो इधर-उधर प्रधावन करता है, दौड़ लगाता है।”

"परंतु जब कोई साधक साधनारत हो जागरूक रह कर इनके प्रति **विद्वा** यानी संवेदनशील हो जाता है तो मन का संवर कर लेता है। वह शुद्ध-बुद्ध साधक आनंद के अनुगमन करने वाले मन को पूर्णतया त्याग देता है।"

आओ, भगवान द्वारा संक्षेप में कहे हुए इस उपदेश को समझें और इसका पालन करें!

देखें, कैसे स्वभाव-शिकंजे में जकड़ गये हैं हम। जब देखो तब मन के लड्डू फोड़ने लगते हैं, ख्याली पुलाव पकाने लगते हैं, हवाई महल बनाने लगते हैं और मीठे सपने सँजोने लगते हैं। ऐसा करते हुए इन नन्हीं-नन्हीं विचार-तरंगों में और इनसे उत्पन्न होने वाली सुखद संवेदनाओं में घंटों लोट-पलोट लगाते रहते हैं और अपनी सुध-बुध खोए रहते हैं। जब होश आता है और यथार्थ की ठोस धरती पर कदम रखते हैं तो सच्चाई कितनी अप्रिय लगती है। मीठे सपने टूटते हैं तो बेहद बेचैनियां लाते हैं। चित्त उद्भ्रांत हो जाता है। कहीं चैन से टिक नहीं पाता। सदा अशांत, अस्थिर, चंचल, उद्विग्न, उद्वेलित, उत्तेजित बना रहता है। दुख ही दुख का पिटारा। इसके पहले कि हम ऐसे भावावेश के शिकार हो जायँ, हमें चाहिए कि जब कभी हमारा मोह-मुग्ध मन इन सूक्ष्म विचार-तरंगों का अनुगमन करने लगे और इन सुखद संवेदनाओं से हर्षित पुलकित होने लगे तभी होश में आ जायँ, स्मृतिवान हो जायँ। चित्तानुपश्यना, कायानुपश्यना और दोनों का सम्मिलित बोध कराने वाली वेदनानुपश्यना और इन वेदनाओं-संवेदनाओं के तरंगमय अनित्य स्वभाव को स्पष्ट करने वाली धम्मानुपश्यना करने लगें। बींधने वाली प्रज्ञा जगाएं। उदय-व्यय के साक्षात्कार द्वारा अपने मन को वीतरागता की ओर, अनासक्ति की ओर उन्मुख करें और अपना कल्याण साधें।

अनित्य के प्रति सजग, सुबोध बने रहने में ही अनित्य के प्रति निःसंग बनाये रखने वाली प्रज्ञा समाई हुई है। अनित्य के प्रति सर्वथा निःसंग होकर ही नित्य शाश्वत ध्रुव-निर्वाण का साक्षात्कार हो सकेगा और इसी में सब का मंगल समाया हुआ है।

———————

७. नया जीवन

सोपाक एक चांडाल के घर में उत्पन्न हुआ। चार महीने का हुआ कि पिता की मृत्यु हो गई। असहाय मां पराश्रित हुई। बालक सोपाक के साथ अपने देवर के घर रहने लगी। देवर को दोनों ही बोझ-जैसे लगे। बिना मन के उन्हें पालने लगा। कारण-अकारण बालक सोपाक अपने चाचा के क्रोधी स्वभाव का शिकार होता और बार-बार बुरी तरह पीटा जाता। जीवन अत्यंत नारकीय हो उठा, असह्य हो उठा। पर लाचारी थी। करता भी क्या? यों दुःख झेलता हुआ बालक सोपाक सात वर्ष का हुआ। तब एक दिन अपने चचेरे भाई से कुछ कहा-सुनी हो गई। बच्चों का यह झगड़ा चाचा के कानों तक पहुँचा। वह आग-बबूला हो उठा और उसने फैसला किया कि अपने भतीजे को सदा के लिए आंखों के सामने से हटा देगा।

उसने मासूम बच्चे की हत्या करनी चाही, पर कर न सका। आखिर उसने एक युक्ति सोची। रात्रि के अंतिम प्रहर में सूर्योदय के पूर्व वह उस बच्चे को श्मशान भूमि ले गया। वहां एक मुर्दे को जंगली सियार नोंच-नोंच कर खा रहे थे। उसने निर्दयतापूर्वक बच्चे के दोनों हाथ पीछे की ओर कस कर बांध दिये और उसे उस मुर्दे के गले से रस्सियों से जकड़ दिया, जिससे जंगली सियार मुर्दे के साथ-साथ बच्चे को भी खा जायँ और इस प्रकार इसका खात्मा हो जाय। बड़ी बेरहमी के साथ बालक सोपाक को इस भयावह स्थिति में छोड़ कर वह घर लौट गया। सियारों ने हमला किया। बालक सोपाक फूट-फूट कर रोने लगा, पर उस निर्जन स्थान में उसकी चीख-पुकार कौन सुनता?

उसी नगर में महाकारुणिक भगवान गौतम बुद्ध का आश्रम था। वे प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में ध्यान भावना से उठे और अपने बोधि-नेत्रों से महामैत्रीमय मंगलदृष्टि इस दुखी संसार पर डाली। सोपाक के कातर स्वर ने उन्हें आकर्षित किया। वे श्मशान-भूमि तक गये और बालक को भयमुक्त कर अपने आश्रम ले आए।

सोपाक को नया जीवन मिला। आसपास के लोगों ने उसे भोजन, वस्त्र, औषधि और निवास-स्थान दिया। भगवान ने उसे कल्याणकारी धर्म दिया। बालक सोपाक अत्यंत पुण्यशाली था। अनेक जन्मों की अर्जित पारमिताओं का विपुल संबल उसके साथ था। समस्त दुखों से सदा के लिए छुटकारा पाने का

समय पका। एक दिन भगवान ने उससे कुछ प्रश्न पूछे। बालक सोपाक मेधावी था। उसने बुद्धिमत्तापूर्वक उत्तर दिये। भगवान प्रसन्न हुए। योग्य पात्र देख कर उस बाल्यावस्था में ही उसे विपश्यना साधना की मुक्तिदायिनी विधि सिखायी। समय पाकर सोपाक मुक्त हुआ, अरहंत अवस्था को प्राप्त हुआ। तब उसके मुँह से हर्ष के ये उद्गार निकले;

जातिया सत्तवस्सोहं, लद्धान उपसम्पदं।
धारेमि अन्तिमं देहं, अहो धम्मसुधम्मता॥

– अहो, धर्म की महिमा देखो! धर्म की सुधर्मता देखो! सात वर्ष की अवस्था में ही मैंने भिक्षु बनने की उपसंपदा पायी और अब मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली। यह देह मेरी अंतिम देह है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं।

सोपाक की मुक्त अवस्था देख कर भगवान ने भी हर्ष की यह उदान गाथा कही;

लाभा अङ्गानं मगधानं, येसायं परिभुञ्जति।
चीवरं पिण्डपातं च, पच्चयं सयनासनं।
पच्चुट्ठानं च सामीचि, तेसं लाभा ति चाब्रवि॥

– बड़ा लाभ हुआ है अंग और मगध के लोगों को, जिनके दिये चीवर, भोजन, औषधि और निवास का उपभोग यह साधक करता है। इसके प्रति प्रकट किये गये आदर-सम्मान से भी उनका बहुत लाभ होता है।

सचमुच किसी संत-पुरुष के प्रति प्रकट किया गया आदर-सम्मान, उसकी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिया गया दान महाफलदायी होता है।

संत-पुरुष संत-पुरुष है, चाहे इस जाति में उत्पन्न हुआ है अथवा उसमें; कुछ भी अंतर नहीं पड़ता। धर्म जाति-पांति का भेदभाव नहीं करता। जो धारण करे, उसे ही मुक्त बना देता है। संत बना देता है। पूज्य बना देता है। वरेण्य बना देता है।

धन्य है धर्म! धन्य हैं धर्म धारण करने वाले सच्चे संत! आओ, हम भी शुद्ध धर्म से प्रेरणा प्राप्त करें और अपना कल्याण साधें!

———————

८. उत्तम ब्राह्मण

रात्रि के निविड अंधकार को स्वर्णिम रश्मियों से दूर करते हुए भुवन-भास्कर प्राची में उदय हो रहे थे। प्रसुप्त वातावरण में जागरण की ऊर्मियां अँगड़ाइयां लेने लगी थीं। सर्वत्र नवजीवन प्रस्फुटित हो रहा था।

ऐसे समय आदित्यबंधु भगवान तथागत अपनी प्रज्ञा-रश्मियों से अविद्या के गहन अंधकार को विदीर्ण करते हुए भिक्षु-संघ के साथ मगध की राजधानी राजगृह की ओर प्रयाण कर रहे थे। उनके मन मानस से फूट-फूट कर निकली हुई धर्म-तरंगें समस्त वातावरण में नवचेतना जागृत कर रही थीं। सारे वायुमंडल में तथागत की अपरिमित मैत्री और करुणा के अजस्र स्रोत उद्वेलित हो रहे थे। भगवान और उनका भिक्षु-संघ नजर नीची किये हुए धीमे कदमों से नगर की ओर चला आ रहा था।

सामने राजमार्ग पर नगर का भंगी सुनीत कमर झुकाए, हाथ में झाड़ू लिये सड़क बुहार रहा था। मंद-मंद पदचाप कान पर पड़ी तो सुनीत रुका और सामने भगवान और भिक्षु-संघ को देख कर ठिठका रह गया। भगवान के दर्शन होते ही न जाने कितने जन्मों के कुशल संस्कार उसकी चित्त-चेतना पर जाग उठे। शरीर पुलक-रोमांच से भर उठा। हृदय गद्गद हो गया। आंखों से अविरल अश्रुधार बह निकली। सारे शरीर में धर्म-तरंगें तरंगित हो उठीं। श्रद्धा-विभोर दोनों हाथ उठे तो उठे ही रह गये, जुड़े तो जुड़े ही रह गये। भगवान के मुखमंडल से विकीर्ण होती हुई आभामंडलीय रश्मियों की ओर देखा तो देखता ही रह गया। भीगी आंखें, मंत्रमुग्ध, श्रद्धा-स्निग्ध, विह्वल-कंठ से केवल दो शब्द ही निकल पाए, "भन्ते! भगवान!"... भगवान ने करुण नेत्रों से उसे निहारा। स्निग्ध-स्नेह की अजस्र धारा बह निकली उनके करुणा-विगलित नयनों से। भाग्यवान सुनीत भीग-भीग उठा उस पतित-पावन धर्मगंगा में स्नान करके।

पर मन में एक हीन-भाव की ग्रंथि बांधे वहीं खड़ा रहा। मैं अस्पृश्य, अंत्यज, अत्यंत हीन-कुल में उत्पन्न और भगवान सूर्यवंशी शाक्यकुलीन क्षत्रिय। इन पर तो मेरी दूषित छाया भी नहीं पड़नी चाहिए। इसी सकुचाहट में एक ओर हाथ बांधे खड़ा रहा। भगवान ने उसके मन के भाव पहचाने। निर्दयी समाज का संत्रस्त शोषित दीन-दुखियारा। निर्मम समाज की दूषित व्यवस्था का असहाय शिकार। संतापहारिणी अमृत वाणी से भगवान ने कहा, "आओ!"

सुन कर सुनीत के शरीर का रेशा-रेशा, तार-तार झनझना उठा। साहस बटोर कर भगवान के समीप गया और भावविभोर उनके चरणों में अपना सिर टेक दिया।

कितनी शांति है, कितना सुख है, महाकारुणिक के मंगल चरणों में। सुनीत आत्म-विभोर हो गया। कुछ समय बाद साहस बटोर कर बोला, "भंते भगवान! मुझे भी इन चरणों में स्थान दीजिए। मुझे भी भिक्षु बनाइए। मैं भी अपना जीवन सफल कर सकूं।" भगवान ने करुणा-विगलित वाणी में कहा, "आओ, भिक्षु!" सुनीत का भाग्य जागा। इन्हीं शब्दों में उसे भगवान से भिक्षु होने की उपसंपदा मिली। सुनीत को यूं लगा जैसे करुणा-सागर ने उसे गले से लगा लिया है और उसका सिर सहला रहे हैं; जैसे उसे छाती से लगा लिया है और उसकी पीठ थपथपा रहे हैं। वह निहाल हो गया।

भगवान उसे भिक्षु-संघ के साथ राजगिरि के वेणुवन में ले गये। वहां उसकी मनःस्थिति के अनुकूल ध्यान की विधि सिखायी। विपश्यना साधना का कर्मस्थान दिया।

सुनीत इस साधना-विधि को भलीभांति समझ कर समीप के अरण्य में जा कर तपने लगा। ध्यान के लिए भगवान ने जो आलंबन दिया, पहले उसके आधार पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया और फिर शरीर पर उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं के दर्शन और अध्ययन करता हुआ कायानुपश्यना और वेदनानुपश्यना करने लगा। चित्त और चित्त पर उत्पन्न होने वाले धर्मों के दर्शन और अध्ययन करता हुआ चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना करने लगा। यों समस्त एएंद्रिय क्षेत्र में अनित्य, दुःख और अनात्म की सच्चाइयों का अनुभव करता हुआ शनैः शनैः राग, द्वेष और मोह के बंधनों से छुटकारा पाने लगा। पूर्वसंचित कर्म-संस्कारों की उदीरणा होने लगी, निर्जरा होने लगी। उनका क्षय होने लगा। जब अधोगति की ओर ले जाने वाले सभी पूर्व संस्कारों का संपूर्ण क्षय हुआ तो स्रोतापन्न के मार्ग पर आरूढ़ हो स्रोतापत्ति फल चख कर अनार्य से आर्य अवस्था को प्राप्त हुआ। तदनंतर अन्य संस्कारों का कर्म-क्षय करते हुए सकदागामी मार्ग पर आरूढ़ हो, सकदागामी फल प्राप्त कर सका।

इसके पश्चात चित्त को और अधिक तीक्ष्ण और सूक्ष्म बनाता हुआ प्रथम ध्यान से आठवें ध्यान तक की आठों ध्यान समापत्तियों का अभ्यास कर पुनः विपश्यना में तल्लीन हो गया। शीघ्र ही अनागामी मार्ग पर आरूढ़ हो कर निरोध-समापत्ति उपलब्ध कर अनागामी फल-लाभी हुआ, और इसके पश्चात अपने अनेक जन्मों की पुण्य पारमिताओं और वर्तमान पराक्रम के बल पर

अरहंत मार्ग पर आरूढ़ हो निरोध समापत्ति उपलब्ध कर तत्क्षण अनुत्तर अरहंत अवस्था में प्रतिष्ठापित हुआ। यूं आठों ध्यान-समापत्तियां और चारों फलसमापत्तियां और निरोध-समापत्तियां प्राप्त कर नितांत विमुक्त अवस्था का अधिकारी हुआ; कृतकृत्य हुआ, जो करना था सो कर लिया। अब करने के लिए और कुछ बाकी नहीं रह गया। पूर्णतया भारमुक्त हुआ। अनेक जन्मों से संचित-संगृहीत समस्त भार उतार दिया। कर्मों का कोई बोझ बाकी नहीं रह गया। चित्त भव-बंध्य संस्कारों से उन्मुक्त हुआ। अब पुनर्जन्म का कोई कारण नहीं रह गया। मुक्त हुआ, अरहंत हुआ, बुद्ध हुआ।

सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक विमुक्ति के वैभव से विभूषित इस परम संत के दर्शन करने और इसका अभिवादन करने देव-मंडली सहित देवेंद्र आए, ब्रह्मा आए। भगवान इस दृश्य को देख कर मुस्कराए। उनके मुँह से उदान के ये बोल निकल पड़े;

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥

– तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम से और दम से ही कोई ब्राह्मण बनता है। ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम ब्राह्मण है।

आओ, भंगी से ब्राह्मण हुए उस परम संत सुनीत की पावन स्मृति में हम भी शत-शत बार नतमस्तक हो उनका अभिनंदन करें और धर्मपथ पर आगे बढ़ने की पुनीत प्रेरणा प्राप्त करें!

एक बार संत सुनीत ने अपने पूर्व पुरुषार्थ और उसके फल को याद करते हुए अत्यंत प्रसन्न चित्त से उदान के ये बोल कहे थे;

सोहं एको अरञ्ञस्मिं, विहरन्तो अतन्दितो।
अकासिं सत्थुवचनं, यथा मं ओवदी जिनो॥

– अरण्य में अकेले रहते हुए तन्द्रा-रहित हो मैंने शास्ता का वचन पूरा किया। भगवान जिन ने मुझे जिस प्रकार मार्गदर्शन दिया था, उसी प्रकार पराक्रम किया।

रत्तिया पठमं यामं, पुब्बजातिमनुस्सरिं।
रत्तिया मज्झिमं यामं, दिब्बचक्खुं विसोधयिं।
रत्तिया पच्छिमे यामे, तमोखन्धं पदालयिं॥

– रात्रि के प्रथम याम में मुझे अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हुआ। रात्रि के मध्यम याम में मेरे दिव्य चक्षु विशुद्ध हुए। रात्रि के अंतिम याम में मैंने अविद्या की समस्त अंधकार राशि को विदीर्ण कर दिया।

ततो रत्या विवसने, सुरियस्सुग्गमनं पति।
इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा, मं नमस्सिंसु पञ्जली॥

– तब रात्रि के अवसान पर सूर्य के उगते ही इंद्र और ब्रह्मा ने आ कर अंजलिबद्ध हो इस प्रकार मेरी वंदना की;

नमो ते पुरिसाजञ्ञ, नमो ते पुरिसुत्तम।
यस्स ते आसवा खीणा, दक्खिणेय्योसि मारिस॥

– हे श्रेष्ठ पुरुष, तुम्हें नमस्कार है! हे उत्तम पुरुष, तुम्हें नमस्कार है! हमने तुम्हारे आस्रव क्षीण हुए देखे हैं। हे वंदनीय, तुम वंदना के योग्य हो!

ततो दिस्वान मं सत्था, देवसङ्घपुरक्खतं।
सितं पातुकरित्वान, इममत्थं अभासथ॥

– तब शास्ता ने मुझे देव-मंडली से घिरे हुए देख कर मुस्कराते हुए, शीतल करने वाली वाणी में कहा,

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥

– तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम से और दम से ही कोई ब्राह्मण बनता है। ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम ब्राह्मण है।

———————

९. सुखी-सुरक्षित – १

सिद्धार्थ गौतम को सम्यक संबोधि प्राप्त हुई। धर्मचक्र-प्रवर्तन हुआ। थोथे कर्मकांड, निरर्थक दार्शनिक वाद-विवाद एवं जातिपांति व संप्रदायगत संकीर्णता से दूर सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक धर्म का सर्वमंगलकारी स्वरूप लोक में प्रसारित होने लगा। सभी वर्ग-वर्ण, कुल-गोत्र के लोग शुद्ध धर्म की चुंबकीय शक्ति की ओर आकृष्ट होकर खिंचे आने लगे। धर्म-संघ संवर्धित होने लगा।

उन दिनों भगवान मगध की राजधानी राजगृह में मगधराज श्रेणिक बिंबिसार द्वारा प्रदत्त वेणुवन में विहार कर रहे थे। तब पिता शुद्धोदन द्वारा बार-बार दूत भेज कर आमंत्रित किये जाने पर भगवान कपिलवस्तु गये। प्रारंभिक हिचक के बाद अनेक शाक्यवंशीय राजपुत्र प्रव्रजित हो धर्मसंघ में सम्मिलित हुए। भगवान कुछ दिन कपिलवस्तु में विहार कर समग्र भिक्षुसंघ सहित समीपवर्ती मल्लदेश के अनूपीय आम्रवन की ओर चल दिये।

उन दिनों कपिलवस्तु में गणराज्य था। गणसभा के सभी सभासद राजा कहलाते थे। उनमें से किसी एक को निश्चित अवधि के लिए कार्यवाहक शासक चुन लिया जाता था। सभी राजा मिलजुल कर शासन के नियमों का संविधान करते और कार्यवाहक राजा उन नियमों के अनुसार प्रजा को अनुशासित करता था। उन दिनों कालीगोध का पुत्र भद्दिय कार्यवाहक राजा था। अन्य अनेक सभासद राजाओं में से एक राजा था शाक्य महानाम, जो खेती-बाड़ी करके जीविकोपार्जन करता था। महानाम का छोटा भाई था अनिरुद्ध जो बड़े भाई और माता के लाड़-प्यार में पला हुआ सुख-समृद्धि का जीवन बिताता था।

एक दिन महानाम शाक्य के मन में यह आया कि सभी राज-परिवारों से अनेक सदस्य शाक्यसिंह भगवान बुद्ध के संघ में सम्मिलित हो रहे हैं। क्यों न मैं भी सारा धन-धान्य और काम-धंधा छोटे भाई अनिरुद्ध के हवाले करके स्वयं प्रव्रजित हो, उनका साथ दूं। इस संबंध में दोनों भाइयों में परस्पर बात-चीत हुई। अंततः महानाम को घर सँभालने के लिए रहना पड़ा। अनिरुद्ध प्रव्रजित होने के लिए कृतसंकल्प हुआ। इस निमित्त वह जब

अपनी मां से आज्ञा लेने गया तो मां व्यथित-व्याकुल हुई। पुत्र-वियोग उसके लिए असह्य था। अनिरुद्ध को अत्यंत दृढ़संकल्प देखा और उसे रोकने का अन्य उपाय नहीं सूझा तो उसने इस शर्त पर अनुमति दी कि राजा भद्दिय तेरे साथ प्रव्रजित हो तो भले तू भी हो जा। वह जानती थी कि एक तो शासन की जिम्मेदारियों के कारण और दूसरे शासक को मिली विशेष सत्ता व सुविधा की आसक्तियों के कारण भद्दिय कदापि प्रव्रजित नहीं होगा। परंतु भद्दिय अनिरुद्ध का बचपन का धूल-खेला घनिष्ठ मित्र था। अतः अनिरुद्ध ने यह शर्त झट स्वीकार कर ली। उसे पूरा विश्वास था कि अंतरंग मित्र भद्दिय उसकी बात नहीं टालेगा। धर्मपथ पर उसका साथ देगा। मानस में सफलता की उमंग और कदमों में गृहत्याग की त्वरा लिए हुए वह राजमहल की ओर गया और राजा भद्दिय से मिल कर बोला, "मित्र भद्दिय, मैं प्रव्रज्या के लिए अत्यंत आतुर हूं, संवेगग्रस्त हूं। परंतु मेरी प्रव्रज्या का होना न होना तेरे अधीन है।"

शाक्यराज भद्दिय ने कहा – "सौम्य अनिरुद्ध, यदि तेरी प्रव्रज्या मेरे अधीन है तो मैं तुम्हें इस अधीनता से मुक्त करता हूं। प्रसन्नता से प्रव्रजित होओ।"

इस पर अनिरुद्ध ने सारी बात समझाते हुए कहा, "मैं तुम्हारे बिना प्रव्रजित नहीं हो सकता।"

शाक्यराज भद्दिय घर से बेघर होकर प्रव्रजित होने के लिए तैयार नहीं था। परंतु वचनों में बँध चुका था। बिना पूरी बात सुने-समझे ही उसने वचन दे दिया था कि "यदि तेरी प्रव्रज्या मेरे अधीन है तो मैं तुम्हें इस अधीनता से मुक्त करता हूं।" अधीनता से मुक्त होने का अर्थ था अनिरुद्ध की माता की शर्त पूरी करना याने स्वयं भी प्रव्रजित होना। उन दिनों लोग सत्यवादी होते थे। वचन निबाहने वाले होते थे। इक्ष्वाकुवंश के लोग तो इस क्षेत्र में अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त थे। अतः प्रव्रजित होने का धर्मसंवेग न होते हुए भी शाक्यराज भद्दिय अनिरुद्ध के साथ मल्लप्रदेश के आम्रवन में, जहां भगवान बुद्ध विहार कर रहे थे, पहुँच कर प्रव्रजित हुआ और उनके धर्मसंघ में सम्मिलित होकर विपश्यना साधना में रत हो गया। समय पाकर अनिरुद्ध की भांति वह भी अरहंत पद को प्राप्त हुआ, जीवन्मुक्त हुआ।

स्थविर भद्दिय अरण्य के किसी खुले स्थान में, रुक्खमूल पर अथवा किसी एकांत ध्यानकक्ष में – जिसे उन दिनों की भाषा में शून्यागार कहा

जाता था; ध्यान करता, विपश्यना भावना करता, अध्यात्म में याने अपने भीतर एएंद्रियजन्य संवेदनाओं की वेदनानुपश्यना करता, अतींद्रिय संवेदनाओं के प्रीतिप्रमोदपूर्ण दर्शन करता और फिर इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर **निब्बाणं परमं सुखं** का तथ्य अनुभव करता और उस निर्वाणिक स्थिति के पश्चात देर तक भीतर ही भीतर जिस शीतल शांति से तन-मन आप्लावित रहता, उससे धर्म-साधना के प्रति विह्वल होकर पुलकरोमांच से भर उठता। कभी-कभी आंखों से अश्रुधारा बह चलती। आनंदातिरेक की ऐसी अवस्था में उसके मुँह से सहसा हर्षोद्गार निकल पड़ते – **अहो सुखं! अहो सुखं!**

बड़ा अंतर है एएंद्रिय सुख और इंद्रियातीत निर्वाणिक सुख में। एक भ्रम, भ्रांति, आभास मात्र। दूसरा यथार्थ, वास्तविक। निर्वाण का सुख सूक्ष्म से सूक्ष्म एएंद्रिय सुख से भी परे। अतुल, अनुत्तर, अद्वितीय, अनुपम, अप्रमेय। वर्णनातीत, व्याख्यातीत, शब्दातीत। गूंगे का गुड़। जो चखे सो ही जाने, कोई कैसे बखाने? बखाने तो हर शब्द भ्रामक ही भ्रामक साबित हो।

तभी तो वे साधक-भिक्षु जो अभी आर्य नहीं हो पाए थे, जो साधना-पथ के पथिक तो थे, पर ऐसे अनुपम अमृतरस का स्वयं आस्वादन नहीं किया था – इस **अहो सुखं! अहो सुखं!** का क्या अर्थ करते? उनके लिए इंद्रिय सुख ही सुख था। अतः वे जब कभी स्थविर भद्दिय को नम-नयन **अहो सुखं! अहो सुखं!** कहते सुनते तो उन्हें लगता पूर्व समय का राजा भद्दिय, मित्र अनिरुद्ध से वार्त्तालाप में वचनबद्ध हो जाने के कारण, बिना मन के घर से बेघर हुआ है। अतः खिन्न मन है। कहां वह महलों का वैभव-विलास और कहां यह भिक्षु का अभावग्रस्त शुष्क जीवन? कहां वह प्रवृत्तिमय रँगरेलियां और कहां यह निवृत्तिमय त्याग-तप? कहां वह नौकर-चाकर, राज्यपरिषद और चतुरंगिनी सेना पर हुकूमत का रुआब-दबाव और कहां यह दर-दर भिक्षाटन का जीवन? अवश्य राजा भद्दिय भीतर ही भीतर अत्यंत दुःखी है और अपने विगत वैभव को याद करके **अहो सुखं! अहो सुखं!** का उच्चारण करता और ठंडी आहें भरता रहता है।

बात भगवान तक पहुँची। भगवान वस्तुस्थिति जानते थे। अतः शिकायत करने वाले भिक्षुओं के सामने ही स्थविर भद्दिय को बुला कर प्रश्न किया ताकि उनकी भ्रांति दूर हो।

स्थविर भद्दिय ने उत्तर दिया, "भंते भगवान! यह सच है कि मुझे अपना पुराना जीवन स्मरण होता है और अबके जीवन से उसकी तुलना करता हूं तो स्वभावतः मुख से **अहो सुखं! अहो सुखं!** निकल पड़ता है। भंते भगवन! जब मैं कपिलवस्तु गणराज्य का कार्यवाही राजा था तो मेरे अंतःपुर के भीतर-बाहर, नगर के भीतर-बाहर, कड़ा पहरा रहता था। यह सारा पहरा मेरी आरक्षा-सुरक्षा के लिए था। परंतु वह भी कैसी सुरक्षा थी जिसके बने रहने पर भी सर्वदा अपने आपको असुरक्षित ही महसूस करता था। सदा भयभीत, सशंकित, सदा उद्विग्न, संत्रस्त। और अब भगवन! अरण्य में किसी वृक्ष के मूल पर, किसी शून्यागार में सर्वथा अकेला रह कर ध्यान करता हूं तो सचमुच कितना सुरक्षित महसूस करता हूं! कितना निर्भय! कितना निःशंक! कितना अल्पेच्छ! कितना शांत! कितना सुखी! ऐसी अवस्था में स्वभावतः हर्षवचन निकल पड़ते हैं– **अहो सुखं! अहो सुखं!**

धन्य है विपश्यनाजन्य समता का महासुख! धन्य है निर्वाण अवस्था का परमसुख!

विपश्यना समता के लिए ही तो है। निर्वाण के लिए ही तो है। महासुख, परमसुख के लिए ही तो है। जीवन में जब-जब अनचाही होती है अथवा मनचाही नहीं हो पाती तब-तब हम कुपित हो उठते हैं और परिणामस्वरूप दुःखी हो उठते हैं। किसी वस्तु अथवा स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं, उसकी चाह में तृषित-त्रसित बने रहते हैं। जब-तक प्राप्त न हो, तब-तक अभाव में असुरक्षित महसूस करते हैं। उद्विग्न, उत्तेजित रहते हैं। प्राप्त हो जाय तो उसे कायम रखने के लिए आतुर हो उठते हैं। सोचते हैं इसके बिना सुरक्षित कैसे रहेंगे? अतः इस **'मेरी'** की सुरक्षा में **'मैं'** की सुरक्षा मानकर, **'मेरी'** को कायम रखने की जी-तोड़ मेहनत करते हैं और आरक्षण की बाड़ लगाते हैं। उजड़ने के भय से रात की नींद, दिन का चैन गँवाते हैं। अभाव में भी दुखी, भाव में भी दुखी। किसी मनचाही के न होने से भी दुखी, हो जाने से भी दुखी। न होने पर, न होने का दुख; होने पर, उसे कायम रखने के प्रयास का दुख। कायम न रख सके तो फिर खो देने का दुख। दुख ही दुख। दुख ही दुख। इस दुख का निरोध ही तो विपश्यना-पथ है।

विपश्यना के अभ्यास में साधक क्या करता है? अंतर्मुखी होकर शरीर-स्कंध के भीतर-बाहर चेतना के स्तर पर अनचाही-मनचाही संवेदनाओं

की अनुभूति करता है। पूर्व संस्कारों के दूषित स्वभाव के कारण अनचाही को दूर करने की, मनचाही को कायम रखने की, समेटे रखने की, बार-बार भूल करता हुआ भी बीच-बीच में दोनों के ही अनित्यधर्म को समझता है और प्रज्ञापूर्वक समता में स्थिर होता है। इस प्रकार शनैः-शनैः उस अवस्था की ओर बढ़ता जाता है, जहां अभाव के कारण अथवा भाव के छूटने के कारण मन कुपित-कुंठित नहीं होता। सफलता-विफलता, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि के भाव-अभावरूपी सुख-दुःखमय द्वंद्वों से पार हो जाता है और उस अवस्था पर जा पहुँचता है जहां सुरक्षा ही सुरक्षा है, निर्भयता ही निर्भयता है, शोकहीनता ही शोकहीनता है। सही अर्थ में सुख ही सुख है। ऐसे महासुख, परमसुख को कोई प्रत्यक्ष अनुभवी ही समझ सकता है। जो स्वयं इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे बहुज्ञ देव भी इसे नहीं समझ सकते। शिक्षाग्राही सामान्य साधकों को तो भ्रम होना ही था।

भिक्षु भद्दिय की इस ऊंची अवस्था को देख कर ही उस समय भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकले;

यस्सन्तरतो न सन्ति कोपा, इतिभवाभवतं च वीतिवत्तो।
तं विगतभयं सुखिं असोकं, देवा नानुभवन्ति दस्सनाया ति॥

– जिसके अंतरतम में कहीं कोप नहीं रह गया, जो भव और अभव के सारे द्वंद्वों को पार कर गया, वह इस अवस्था पर पहुँच गया; जहां अभय, अशोक और सुखी ही रहता है। उस अवस्था को प्राप्त हुए मुक्त व्यक्ति को देवता भी नहीं समझ सकते।

साधको! कठिन है उस ऊंची अवस्था तक पहुँचना, जहां सही सुरक्षा प्राप्त हो जाय, सही सुख प्राप्त हो जाय; पर असंभव नहीं है। धैर्य धीरज के साथ **अनुपुब्बी** याने क्रमशः अभ्यास द्वारा इस मंगल-पथ पर एक-एक कदम बढ़ते चलें और अपना मंगल साधते चलें! देर-सबेर अंतिम लक्ष्य तक पहुँचेंगे ही! जितने-जितने कदम चलेंगे उतना-उतना मंगल सधेगा ही!

------

१०. सुखी-सुरक्षित – २

जैसे सभी शासक वैसे ही कोशलनरेश महाराज प्रसेनजित भी सदैव अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित रहता था। न जाने कब कोई पड़ोसी दुश्मन हमला करके राज्य छीन ले। न जाने कब कोई विद्रोही बगावत का बलवा बोल दे। न जाने कब कोई बेवफा राज्य-अधिकारी अथवा सत्तालोलुप स्वजन-परिजन षड्यंत्र करके हत्या कर दे। विलास-वैभव, धन-ऐश्वर्य, सत्ता-प्रभुता का सुख भोग सकना तो दूर, हर समय इनकी और अपनी सुरक्षा की चिंता ही मन व्यथित करती रहती थी। न रात को निश्चिंत नींद, न दिन को निश्चिंत चैन। सुरक्षा के लिए जगह-जगह बड़ी संख्या में हाथी, घोड़े, रथ-सवार और पैदल अंग-रक्षक तैनात कर रखे थे, परंतु फिर भी अंतर्मन सदा भयभीत, आशंकित, असुरक्षित ही रहता था।

बाहर से सुखी-सुरक्षित दिखने वाला पर भीतर से सदा असुखी, असुरक्षित रहने वाला राजा प्रसेनजित भगवान के संपर्क में आया। धर्म के, विपश्यना के संपर्क में आया।

कोशलदेश की राजधानी श्रावस्ती में श्रेष्ठी सुदत्त अनाथपिंडिक ने विपुल धन-संपदा लगा कर जेतवन में एक विशाल साधना-केंद्र निर्माण कर भगवान को समर्पित किया था। भगवान के साथ रहने वाले सहस्रों गृहत्यागी भिक्षु तो वहां रहते हुए विपश्यना साधना का अभ्यास करते ही थे, बहुत बड़ी संख्या में गृहस्थ भी इस साधना केंद्र में भगवान के सान्निध्य और मार्गदर्शन से लाभान्वित होते थे। राजा प्रसेनजित ने भी विपश्यना का अभ्यास किया।

विपश्यना साधना यानी आत्ममुखी होने की साधना, सत्यमुखी होने की साधना। विपश्यी साधक अंतर्मुखी होकर अपने भीतर की सच्चाई को देखता है। अपने मन की गंदगी को, विकारों को देखता है, और देखते-देखते प्रज्ञा में स्थित होता हुआ विकारों से विमुक्त होने लगता है।

कोशलनरेश प्रसेनजित भी इसी प्रकार अपने भीतर अपने मनोविकारों को देखने लगा। अंतर्मन में समाये हुए भय के विकार प्रकट हुए। जो विकार सामान्यतया समस्त मनोजगत को अभिभूत कर लिया करते थे, वे ही अब विपश्यना के अभ्यास द्वारा तटस्थ भाव से देखे जाने लगे। जब व्यक्ति विकारों

से अभिभूत हो जाता है तो उसे सच्चाई विकृत होकर ही दीखती है। परंतु अभिभूत न होकर असंगभाव से देखता है तो सच्चाई जैसी है, वैसी दिखने लगती है। ऐसे समय जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वे सम्यक ही होते हैं। **'योनिसो मनसिकार'** ही होते हैं, यानी सही प्रकार से चिंतन-मनन होता है। इस सम्यक दर्शन और सम्यक संकल्प द्वारा जो ज्ञान उपजता है, वह भी सम्यक होता है, कल्याणकारी होता है।

अनाथपिंडिक के जेतवन विहार में किसी एकांत शून्यागार यानी ध्यानकुटी में विपश्यना भावना करता हुआ कोशलनरेश प्रसेनजित आध्यात्मिक सत्य-दर्शन में प्रतिसल्लीन हुआ तो अपने मन में समाये हुए असुरक्षा के भयावह विकारों के प्रति सम्यक चिंतन-मनन करने लगा। सुरक्षा-असुरक्षा की सही बात समझ में आने लगी।

कौन सुरक्षित है? कौन अरक्षित है? हाथी, घोड़े, रथ-सवारों और पैदल अंग-रक्षकों के होते हुए भी कोई व्यक्ति तब तक सुरक्षित नहीं है जब तक कि वह काया, वाणी व चित्त के दुराचार से विरत नहीं हो जाता। अंगरक्षकों की सुरक्षा तो बाहरी-बाहरी ही है, और वह भी कितनी अविश्वसनीय। परंतु अध्यात्म की सुरक्षा यानी भीतर की सुरक्षा तो आचरण सुधरने पर होती है। वही है अत्यंत सुदृढ़ सुरक्षा। शरीर और वाणी का दुराचरण मन के मैल का ही दुष्परिणाम है। मन का दुराचरण तो स्पष्टतया मन का मैल है ही। शरीर, वाणी और मन से दुराचरण करने वाला व्यक्ति मन को मैला करता है; और जब-जब मैला करता है, तब-तब कुदरत के कानून द्वारा तत्काल दंडित होता है और भविष्य में भी इस दंड विधान का शिकार होता है। आंतरिक सुख-शांति खो बैठता है। आकुल-व्याकुल होता है, दुखी-बेचैन होता है। आचरण सुधार लेता है तो इस दंड से बच जाता है। सही माने में सुखी-सुरक्षित हो जाता है। अतः असली सुख, असली सुरक्षा आचरण सुधारने में ही है। एकांत ध्यान से उठ कर जब उसने अपने मन में उठे इस सम्यक संकल्प की बात भगवान के सामने प्रकट की तो उसके कथन का अनुमोदन करते हुए भगवान ने यह धर्मगाथा कही;

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो लज्जी, रक्खितोति पवुच्चतीति॥

– काया का संयम अच्छा है, अच्छा है वाणी का संयम। मन का संयम अच्छा है, अच्छा है सब का संयम। जो लज्जावान व्यक्ति सब प्रकार से संयमशील है, वही सुरक्षित कहा जाता है।

लज्जावान वह जिसे काया, वाणी, चित्त के दुराचरण करते हुए लज्जा आए और परिणामतः उनसे बचे। जो दुराचरण से बचता है वह सदाचरण ही करता है। सचमुच सदाचारी, सदा सुखी है, सदा सुरक्षित है।

एक व्यक्ति धन-संपदा संग्रह कर आसक्त होता है। सोचता है, इनके सहारे मेरा भविष्य सुरक्षित रहेगा। अनागतकाल में मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। एक व्यक्ति पुत्र-कलत्र, बंधु-बांधव संग्रह कर आसक्त होता है। सोचता है इनके सहारे मेरा अनिष्ट नहीं होगा। संकट में भाई शरण देगा, पुत्र रक्षा करेगा। लेकिन जब दिन पलटते हैं तो अपने को असहाय पाता है। न संगृहीत धन काम आता है, न पुत्र-कलत्र, बंधु-बांधव रक्षा कर पाते हैं। अपने कर्म-संस्कारों का दुःखद प्रतिफल स्वयं ही भुगतना पड़ता है। किंचित भी सुखी नहीं रह पाता।

एक व्यक्ति गृह-त्याग कर अथवा गृहवासी रहते हुए भी धर्मपूर्वक परिवार-पोषण करता हुआ शील का पालन करता है, समाधि का अभ्यास करता है, प्रज्ञा में स्थित होता है, विपश्यना साधना द्वारा लोभ, द्वेष, मोह का संवर करता है और इस प्रकार धर्म संग्रह करता है, धर्म की शरण जाता है। उसके भी दिन कभी पलटते हैं, पूर्वकाल के किन्हीं दूषित कर्म-संस्कारों के दुखद प्रतिफल सामने आते हैं। न धन काम आता है, न भाई साथ देता है, न पुत्र रक्षा करता है। परंतु संग्रह किया हुआ धर्म सहायक बनता है। धारण किया हुआ धर्म धारण करता है। पालन किया हुआ धर्म पालन करता है। **धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं** – आचरण द्वारा रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है। धर्म धैर्य के साथ संकट का सामना करता है। बुरे दिन देर तक टिक नहीं पाते। खोया हुआ धन लौट आता है। आंखें बदले हुए भाई-बंधु पुनः मिल जाते हैं। मुँह फेरे हुए पुत्र-कलत्र पुनः आज्ञाकारी हो जाते हैं। सारा वातावरण अनुकूल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सही माने में सुखी-सुरक्षित रहता है – इहलोक में भी, परलोक में भी और सारे लोकों के परे भी।

आओ, लज्जावान बनें! दुराचरण करने में लज्जा आए, जिससे दुराचरण से विरत रह जायँ! सदाचरण में पुष्ट हों और इस प्रकार धर्म धारण करने के अभ्यास द्वारा शनैः शनैः सही माने में सुखी और सुरक्षित होने के पथ पर बढ़ते चलें!

सदाचार ही धर्म है, दुराचार ही पाप।
पर सेवा ही धर्म है, पर पीड़न ही पाप॥

मुनि के सही दर्शन

सही दर्शन

सही दर्शन

दर्शन, भक्ति, पूजन, वंदन, अभिवादन आदि सभी दो प्रकार के होते हैं – आमिष और निरामिष।

आमिष वह जो हमें भवचक्र में बांधे रखे और निरामिष वह जो भवचक्र से छुटकारा दिलाए। विपश्यी साधक जब सतिपट्ठान के शिविर में भाग लेता है तो वेदनानुपश्यना के भेद समझते हुए इन दोनों शब्दों से उसका संपर्क होता है। सुखद, दुखद अथवा असुखद-अदु:खद संवेदनाएं जब राग, द्वेष, मोह पैदा करती हुई लोकचक्र प्रवर्तन करती हैं तो सामिष कहलाती हैं और वही संवेदनाएं अनित्यबोध के आधार पर जब राग-द्वेष और मोहविहीन बने रहने में सहायक होती हैं और धर्मचक्र प्रवर्तन करती हैं तो निरामिष कहलाती हैं। संवेदनाएं तो वही हैं, परंतु हम उनका प्रयोग जिस प्रकार करें, उसी के अनुसार वे सामिष या निरामिष होती हैं, यानी बंधन का कारण बनती हैं या मुक्ति का उपाय बनती हैं। यही नियम दर्शन, भक्ति, पूजन, वंदन, अभिवादन आदि पर भी लागू होता है।

भक्ति के क्षेत्र में भगवान के दर्शन को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। एक मान्यता चली आ रही है कि भगवान के दर्शन हो जायँ, तो भक्त मुक्त हो जाय। यह मान्यता बिल्कुल सही भी है और सर्वथा गलत भी। दर्शन निरामिष हो तो भक्त अवश्य मुक्त हो जाएगा। निरामिष-आमुख हो तो भी मुक्ति-आमुख हो जाएगा। परंतु सामिष हो तो मुक्ति से दूर, भव-बंधनों में ही बँधता जाएगा।

जब कोई व्यक्ति भगवान के साकार शरीर के दर्शन करता है और उसकी रूपमाधुरी पर मोहित होता है तो दर्शन सामिष होता है। जब शरीर के दर्शन कर भगवान के गुणों को याद करता है और वैसे गुण स्वयं धारण करने की प्रेरणा प्राप्त करता है तो निरामिष-आमुख हो जाता है यानी मुक्ति की ओर बढ़ने का कदम उठाता है। परंतु जब कोई व्यक्ति साधना के बल पर भगवान की धर्म-तरंगों के अनुरूप स्वयं भी धर्म-तरंगें उत्पन्न करके, उनसे समरस हो जाता है तो वह निरामिष दर्शन होता है। भक्त भवबंधन से मुक्त हो जाता है, क्योंकि ऐसा करते हुए अपने सारे भव-संस्कार निर्जरित कर लेता है।

भगवान के जीवनकाल की कुछ एक घटनाओं से इसे स्पष्टतया समझें।

किसा गोतमी

आदमी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार खूबसूरत या बदसूरत शरीर प्राप्त करता है। पूर्व कर्म पुण्यमय हों तो खूबसूरत माता-पिता के संसर्ग में आता है और गर्भावस्था अथवा जन्म के समय विघ्न-विमुक्त होकर सर्वांग सुंदर देह पाता है। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम अनगिनत जन्मों में असीम पुण्य-पारमिताओं का संचय लेकर जन्मा तो अत्यंत सुंदर देहधारी हुआ। अत्यंत आकर्षक बड़ी-बड़ी नीली आंखें, मनमोहक धनुषाकार भौंहें, भौंहों के बीच में श्वेत कोमल कपास-सी रोम-राशि, लंबी नाक, पतले गुलाबी होठ, शुभ्र श्वेत सुगठित दंतावली, लंबी जिह्वा, सिंह की-सी ठोड़ी, सिंह की-सी कटि, काले चिकने मुलायम केश, सीधे खड़े होने पर घुटनों को छू जाने वाले लंबे आजानुबाहु, लंबी पतली खूबसूरत अँगुलियां, उन्नत भव्य ललाट, मृग की सी पिंडलियां और तपे स्वर्ण-सी चमकीली त्वचा। सब मिला कर ऐसा नयनाभिराम व्यक्तित्व जो किसी को भी हठात अपनी ओर खींच ले।

ऐसे मनोमुग्धकारी रूप-माधुर्य का धनी राजकुमार सिद्धार्थ सारथी छन्द के रथ पर सवार होकर नगर-भ्रमण कर राज-उद्यान में लौटा। सेवकों ने उसे स्नान करवा कर बहुत सुंदर वस्त्राभूषणों से सजाया। यह उसके जीवन की आखिरी शरीर-सजावट थी। वह रथ पर सवार हो, राजपथ से गुजरता हुआ अपने महलों की ओर चला। राजमार्ग पर एक बड़ी हवेली के बरामदे में खड़ी युवती किसा गोतमी (चुटकी भर सरसों वाली नहीं) खड़ी थी। राजकुमार की रूपश्री देख कर वह विमुग्ध हो उठी और इस मुग्ध अवस्था में उसने यह गीत गाया;

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी, यस्सायं ईदिसो पतीति॥

– उस माता की सारी इच्छाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, उस पिता की सारी इच्छाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ। उस पत्नी की सारी इच्छाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पति मिला।

कुमारी किसा गोतमी राजकुमार सिद्धार्थ के भौतिक शरीर की रूप-माधुरी का रसपान कर मुग्ध हुई। परंतु राजकुमार उसी दिन वृद्ध, रुग्ण, मृत और परिव्राजक को देख कर संसार के प्रति सर्वथा निर्वेद के भाव से भरा हुआ था। उसने **निब्बुता** शब्द सुना तो कानों में धर्म-गंभीर **निर्वाण** शब्द की वीणा झंकृत हो उठी। सारा तन-मन झनझना उठा। मानस में बिजली-सी कौंधी। **निब्बुता** तो वही होगा, जिसके भीतर राग, द्वेष, मोह की अग्नि

पूर्णतया बुझ जाए। यह कुमारी मुझे निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। मुक्ति के मार्ग पर उत्तेजित करने वाली मानो यह मेरी आचार्या है। कृतज्ञता-विभोर राजकुमार ने अपने गले में पहना हुआ मोतियों का बहुमूल्य हार गुरु-दक्षिणा के रूप में किसा गोतमी को भेजा; यह समझता हुआ कि यह शरीर जीर्ण होने वाला है। समय रहते इसका सही उपयोग कर राग, द्वेष, मोह से मुक्त होकर, निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार कर लूं और जीवन सफल बना लूं। उसी रात परम सत्य की खोज में सिद्धार्थ राजकुमार ने घर त्यागा। अनोमा नदी पार करके बेहद खूबसूरत केशराशि काट फेंकी। बेशकीमती वस्त्राभूषण उतार कर, भिक्षु के गेरुवे वस्त्र धारण कर लिये और मुक्ति की खोज में आगे बढ़ चला। इस ओर वह किसा गोतमी राजकुमार का भेजा हुआ बहुमूल्य हार पाकर यह समझ बैठी कि कुमार ने मेरा प्रणय-निवेदन स्वीकार किया है और उपहार-स्वरूप यह हार भेजा है। उसने **योनिसोमनसिकार** चिंतन ही नहीं किया, यानी ठीक दिशा में चिंतन ही नहीं किया; निरामिष दर्शन तो बहुत दूर की बात हुई। रूप-माधुरी का सामिष दर्शन करके उस कामातुरी कामिनी के अंग-अंग में वासना की सिहरन फूट पड़ी। उसे इस दर्शन से क्या मिला भला? भवबंधन बांधने वाला मुक्ताहार ही मिला, बंधनमुक्ति नहीं।

संन्यासी उपक

युवा योगी सिद्धार्थ गौतम ने छह वर्षों तक विभिन्न प्रकार की साधनाएं आजमाईं। असीम कायाकष्ट का मार्ग भी अपना कर देखा। पर उनसे उसे भवमुक्ति प्राप्त नहीं हुई; तो स्वयं अपने प्रयत्नों से मुक्तिदायिनी विपश्यना साधना ढूंढ़ निकाली। इसी के अभ्यास द्वारा निरंजना नदी के तीर पर बोधिवृक्ष के तले परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार कर लिया। सम्यक संबोधि प्राप्त कर ली। जन्म-जन्म के भवबंधनों से मुक्त हो गया। इस निर्वाणिक सुख की अवस्था में बोधिवृक्ष के तले और उसके आसपास सात सप्ताह बिता कर, उसने यह कल्याणकारी विद्या भव-संतापित जगत को बांटने का निर्णय किया। अपने पांच पुराने साथियों को यह रत्न बांटने के लिए ऋषिपत्तन, वाराणसी की ओर चल पड़ा।

जब वह शरीर को दंड देने वाली निरर्थक साधना में लगा था तो उसका शरीर कृशकाय हो गया था। स्वर्णवर्णा त्वचा दुर्वर्ण हो गयी थी। चेहरे

की आभा बिल्कुल नष्ट हो गयी थी। परंतु मध्यम मार्ग अपना कर विपश्यना साधना करने लगा तो शरीर की शोभा पुनः लौट आयी। सम्यक संबोधि प्राप्त होने पर तो यह शोभा कई गुना बढ़ गयी। केवल चेहरे से ही नहीं, बल्कि अंग-अंग से अलौकिक अपूर्व कांतिप्रभा प्रस्फुटित हो उठी। ऋषिपत्तन की ओर यात्रा करते हुए मार्ग में उन्हें उपक नाम का एक नग्न आजीवक संन्यासी मिला। उसने भगवान के चेहरे की कांति और शांति देखी तो बहुत प्रभावित हुआ। उनकी ओर आकर्षित हुआ और कौतूहलवश पूछ बैठा;

"श्रमण! तुम्हारे नयन, मुख बहुत शांत और प्रभापूर्ण हैं। तुम्हें क्या प्राप्त हो गया है? तुम्हारा आचार्य कौन है?"

भगवान ने कहा, "मुझे सम्यक संबोधि प्राप्त हुई है। मैं स्वयं अपना आचार्य हूं।"

उपक ने फिर उत्सुकतावश पूछा, "तो क्या तुम अरहंत हो गये हो? अनंत जिन हो गये हो?"

भगवान ने सहजभाव से स्वीकृति दी, "हां, भाई! मैं अरहंत हो गया हूं। अनंत जिन हो गया हूं।"

उपक को लगा कि आज के युग में कोई अनंत जिन कैसे हो सकता है? वह अविश्वास से भरा मुँह बिचका कर बोला, "होगा" और उपेक्षा के भाव से एक ओर चल दिया।

आजीवक उपक ने उस समय भगवान बुद्ध का दर्शन तो किया, पर यह दर्शन निरामिष नहीं था। इसलिए जो लाभ मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला।

आगे चल कर उपक मार्गभ्रष्ट हुआ। परिव्राजक जीवन त्याग कर एक शिकारी की सुंदरी पुत्री चंपा के प्रेम-पाश में फँस गया और उससे विवाह कर लिया। स्वयं भी शिकारी का घृणित जीवन जीने लगा। समय पाकर उसे एक पुत्र भी हुआ। परंतु पत्नी चंपा परिव्राजक का जीवन छोड़ने वाले पति को बराबर ताने मारा करती थी। उसके कटु वचनों से आहत होकर वह एक दिन घर छोड़ कर निकल पड़ा। वर्षों पूर्व जिन अनंत-जिन को मिला था, अब उन्हीं की शरण गया और उनसे विपश्यना साधना सीखी। भगवान का दर्शन निरामिष होता है, विपश्यना के आधार पर धर्मतरंगों के स्तर पर होता है, तो ही सार्थक होता है। उपक शीघ्र ही अनागामी अवस्था पाकर कालांतर में

अरहंत हुआ। साकार भौतिक शरीर के दर्शन उपक को पहले भी हुआ था, पर मुक्ति तो निराकार आध्यात्मिक दर्शन से ही हुई।

पांच सहयोगी

धर्मचक्र प्रवर्तन करने और अपने बिछड़े हुए पांचों साथियों को करुणचित्त से शुद्ध धर्मरत्न बांटने के लिए भगवान ऋषिपत्तन पहुँचे। पांचों ने उन्हें दूर से आता हुआ देखा और देखा कि उनका शरीर पहले जैसा कृशकाय नहीं है। अस्थि-पंजर नहीं है। अस्थियों के कील-कांटे शरीर पर नहीं उभर रहे, तो उन्होंने समझा कि यह साधनाच्युत गौतम हमारे पास आ रहा है। राजकुल में जन्मा है, अतः आने पर बैठने के लिए आसन तो देना होगा, परंतु इसका अन्य कोई मान-सम्मान, आदर-सत्कार नहीं करेंगे। उन दिनों भारत में एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसी मान्यता वाला था कि देहदंडन से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इन पांच साथियों ने देखा कि यह देहदंडन का तप छोड़ चुका है, अतः मुक्ति का अधिकारी नहीं है। इस मिथ्या धारणा से ये पांचों प्रभावित थे। परंतु असीम करुणा और मैत्री की किरणें विकीर्ण करते हुए भगवान बुद्ध जैसे-जैसे समीप आते गये, वैसे-वैसे ये पांचों अधिकाधिक प्रभावित होते गये। वे अपने पूर्व निर्णयों को भूल गये और उनके सम्मान सत्कार में लग गये। बहुत आदर और श्रद्धापूर्वक उनका उपदेश सुना। देहमंडन और देहदंडन की अतियों के बीच की मध्यमा प्रतिपदा का अभ्यास करके देखा और पहले दिन के प्रशिक्षण से ही कौंडण्य स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुआ। दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे दिन भगवान ने वप्प, भद्दिय, महानाम और अश्वजित के साथ बैठ-बैठ कर उन्हें विपश्यना साधना करवायी और एक-एक करके वे भी स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुए। छठे दिन भगवान ने पांचों को विपश्यना के आगे का पाठ सिखाया और पांचों अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए।

उनके लिए भगवान के प्रथम दर्शन निरामिष नहीं बना, परंतु ज्यों-ज्यों निरामिष बनता गया, त्यों-त्यों पांचों के पांचों विशुद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए इसी जीवन में मुक्त हो गये।

राजकुमार राहुल

गृह त्याग के सात वर्ष बाद भगवान कपिलवस्तु लौटे। सारा नगर अपने पूर्वकाल के राजकुमार के दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। कुमार राहुल भी अपने पिता के दर्शन के लिए उत्सुक था। सिद्धार्थ ने जब घर छोड़ा था, तो शिशु राहुल पूरे एक दिन का भी नहीं हुआ था। महल के छज्जे पर खड़ी माता यशोधरा पुत्र राहुल को उसके पिता की पहचान करवाती है। यह जो भिक्षु-संघ के साथ आगे बढ़ते चले आ रहे हैं, उनका रूप ऐसा है जैसे कि नील गगन-पथ पर तारागण से घिरा चंद्रमा।

गच्छति नीलपथे विय चन्दो।

तारागणपरिवेट्ठितरूपो।

सावकमज्झ गतो समणिन्दो।

एसहि तुय्ह पिता नरसीहो॥

यह जो नरेंद्र सिंह सदृश हैं, यह तेरे पिता हैं। सात वर्ष के बालक को साकार शरीर की रूपश्री के स्तर पर ही तो पहचान करवाई जा सकती थी।

"अंजन वर्ण सुनील केश हैं जिनके, कंचनपट्ट की तरह दीप्त शुद्ध ललाट है जिनका, सिंह हनु, सुगठित गर्दन, सुंदर नासिका, इंद्रधनुष सदृश नीली भौंहें हैं जिनकी, पूर्णिमा के चांद जैसी मुख छटा है जिनकी, उत्तम वर्ण, कंचन-छवि वाला शरीर है जिनका, ऐसे यह नरेंद्र सिंह तेरे पिता हैं।"

शरीर-श्री का यह शोभा वर्णन अध्यात्म-दर्शन नहीं करा सकता। असंख्य पूर्व जन्मों में यशोधरा भगवान की जीवनसंगिनी रह चुकी थी। उनके साथ-साथ प्रभूत पुण्य पारमिताओं का संचय-संग्रह किया था। ऐसी धर्मविहारिणी द्वारा बुद्ध का केवल सामिष वर्णन उचित नहीं था। अतः पुत्र को समझाते हुए उनके अध्यात्म-गुणों की ओर भी संकेत करती है।

सील समाधि पतिट्ठित चित्तो।...

लोक हिताय गतो नरवीरो।...

आदि-आदि। कुमार राहुल के पास भी अनेक जन्मों की पुण्य-पारमिताओं का विपुल संग्रह था। अतः पहली बार जब पिता के समीप जाता है, तो उनके शारीरिक रूप-सौंदर्य से प्रभावित नहीं होता, बल्कि उनके आध्यात्मिक सौंदर्य की ओर आकर्षित होता है। और इसीलिए कहता है;

"श्रमण! तुम्हारी छाया बहुत शीतल है, सुखद है।"

और यह शीतल, सुखद छाया उसे शरण देती है। अपने अंक में भर लेती है। वह अपने पिता से अपना दायाद (उत्तराधिकार) याने विरासत मांगता है। धर्मराज के पास शुद्ध धर्म के सिवाय विरासत में देने को और क्या था भला? वे उसे भिक्षु-संघ में सम्मिलित कर लेते हैं। बालक राहुल धर्मसेनापति सारिपुत्त और महामोग्गल्लान की देखरेख में धर्मपथ पर आगे बढ़ता है। किशोर और युवावस्था पर पहुँचते-पहुँचते भगवान के निरामिष दर्शन करने लगता है। विपश्यना की सीढ़ियों पर चढ़ कर वह अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेता है। जीवन सार्थक कर लेता है।

माता के द्वारा पिता का दर्शन कराया गया, उससे वास्तविक परिचय नहीं हुआ, परंतु जब विपश्यना साधना द्वारा धर्म-दर्शन किया तो सचमुच पहचान लिया अपने पिता को, ठीक वैसे ही जैसे कि दादी महाप्रजापति गोतमी ने अपने पुत्र को पहचाना –

परिचिण्णो मया सत्था, कतं बुद्धस्स सासनं।

– बुद्ध का शासन पूरा करके यानी बुद्ध की बतायी हुई साधना पूरी करके, मैंने अपने शास्ता को पहचान लिया।

ब्राह्मण मागन्दीय

कुरु प्रदेश का कम्मासधम्म निगम। यहां का निवासी ब्राह्मण गृहस्थ मागन्दीय। उसकी देवकन्या सदृश सर्वांग सुंदरी सुवर्ण-वर्णा मागन्दीया। अनेक लोग उस रूपवती को अपनी जीवन-संगिनी बनाने के लिए आतुर थे। परंतु ब्राह्मण का हठ था कि वह अपनी रूपसी कन्या का हाथ उसी को देगा जो उसी की तरह सुवर्ण-वर्ण हो और अद्वितीय रूपवान हो। अपने इस हठ को पूरा करने के लिए वह योग्य वर की खोज में लगा रहा, पर बहुत समय तक सफलता नहीं मिली।

एक दिन वह समीप के वनखंड में से गुजरता हुआ ब्राह्मण भारद्वाज के आश्रम के पास से निकला। वहां किसी वृक्ष की छाया में भगवान बुद्ध ध्यानावस्थित बैठे थे। उनके सुवर्ण-वर्ण सुंदर शरीर से अनुपम प्रभा प्रस्फुटित हो रही थी। ऐसा रूप-शोभायुक्त व्यक्ति उसने कभी नहीं देखा था। वह अत्यंत प्रभावित हुआ। भगवान में उसे अपनी सलोनी कन्या के मनोवांछित वर के दर्शन हुए। यह व्यक्ति कहीं विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा न दे, इसलिए ब्राह्मण ने यही उचित समझा कि अपनी रूपवती कन्या को यहीं ले आए। उस मोहिनी की रूप-माधुरी देख कर यह अवश्य स्वीकृति दे देगा। उसने भगवान से कहा,

"श्रमण! यहीं ठहरें। मैं अपनी पुत्री को ला रहा हूं, जो तुम्हारी जीवन-संगिनी बनने योग्य है।" इतना कह कर वह दौड़ा-दौड़ा घर गया। अपनी पत्नी से बोला, "भद्रे! रूपवती कन्या के लिए मैंने बहुत उपयुक्त वर खोज लिया है। तू मागन्दीया को सजा-धजा कर साथ ले चल। आज हमारी मंशा अवश्य पूरी होगी।"

मां ने बेटी को सुगंधित जल से स्नान करवाया। बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया। कुमारी मागन्दीया का रूप और अधिक निखर आया। दोनों उसे लेकर भारद्वाज के आश्रम की ओर गये। देखा भगवान वहां नहीं थे। ब्राह्मण की निकम्मी बात सुन कर, वह वहां से उठ कर आगे चले गये थे। ब्राह्मण को बड़ी निराशा हुई। उसने पथ पर भगवान के पद-चिन्ह देखे और बोला, "श्रमण इसी रास्ते गया है। चलो उसे ढूंढ लें।" ब्राह्मण की पत्नी बहुत विदुषी थी। वेद-वेदांगों में पारंगत थी। शरीर-लक्षण-शास्त्र की परम ज्ञाता थी। भगवान जिस तृण बिछे स्थान पर बैठे थे, उसे ध्यान से देखा। वे जिस रास्ते गये, उस पर पड़े पद-चिह्नों को बड़े ध्यान से देखा और अपने पति से बोली, "प्रिय! हमारी मनोकामना पूर्ण होने वाली नहीं है। इस आसन पर बैठने वाला व्यक्ति वीतकाम है। इन पद-चिह्नों वाला व्यक्ति राग, द्वेष, मोह से सर्वथा विमुक्त है। यह किसी नारी को स्वीकार नहीं कर सकता।" ब्राह्मण को बुरा लगा। मंगल की बेला कैसी अमंगल वाणी बोल रही है? उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति का पूरा विश्वास था। वह भगवान को ढूंढते हुए आगे बढ़ा।

कुछ दूरी पर उसे भगवान के दर्शन हुए। मागन्दीय ब्राह्मण ने आतुरतावश अपनी बेटी का हाथ पकड़ कर भगवान की ओर बढ़ाते हुए कहा, "महाश्रमण! मेरी इस रूपवती कन्या को स्वीकार करें। आप दोनों का रूप-सौंदर्य एक-दूसरे के सर्वथा उपयुक्त है। इसके साथ सुखी गृहस्थ-जीवन बिताइए।"

भगवान ने कहा, "ब्राह्मण! मैं गृहस्थ जीवन से मुक्त हो चुका हूं। मैं वीतकाम हूं। वीतराग हूं। अपनी कन्या का विवाह कहीं और करो।"

जब ब्राह्मण बार-बार जिद्द करता रहा तो भगवान ने कहा,

"ब्राह्मण, मैं अरहंत हूं। सम्यक संबुद्ध हूं। संबोधि प्राप्त करते हुए बोधिवृक्ष के तले जब मारदेव मुझे नहीं हरा सका तो मुझे साधनाच्युत करने के लिए उसने अपनी तीन सुंदरी पुत्रियों को भेजा। तृष्णा, रती और रागणी। उन परम मोहिनी देवकन्याओं के प्रति भी मेरे मन में रंच-मात्र वासना नहीं जागी। यह तो मानवी शरीर, भिन्न-भिन्न प्रकार की गंदगियों से भरा हुआ। ब्राह्मण! मैं समस्त वासनाओं से सर्वथा मुक्त हो चुका हूं।"

ब्राह्मणी भगवान की वाणी से अत्यंत प्रभावित हुई। उनके प्रभामंडल मंडित शांतिकांतियुक्त चेहरे ने उसे आश्वस्त किया कि यह व्यक्ति सचमुच सम्यक संबुद्ध है, अरहंत है। उसने अपने पति को बहुत समझाया कि वह इस व्यक्ति से पुत्री के संबंध की आशा त्याग दे। हमारा सौभाग्य है कि पुत्री के लिए वर खोजने के प्रयत्न में हम सम्यक संबुद्ध के संपर्क में आए। हम इनसे मुक्ति का मार्ग सीख कर मानव-जीवन सार्थक करें। ब्राह्मण ने पत्नी की बात मानी। पुत्री को अपने छोटे भाई चुल्ल मागन्दीय के हवाले करते हुए कहा कि उचित वर खोज कर इसके हाथ पीले कर देना, और स्वयं अपनी पत्नी सहित भगवान के पास रुक गया। उनसे विपश्यना साधना सीख कर दोनों पति-पत्नी पुरुषार्थ करते हुए अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए।

ब्राह्मण-पुत्री मागन्दीया को अपने रूप का बड़ा अभिमान था। उसे लगा कि भगवान ने उसके रूप का घोर अनादर किया है। कुछ समय पश्चात वह कौशांबी नरेश उदयन से ब्याही गयी और उनकी तीन पटरानियों में से एक हुई। परंतु उसके मन में भगवान से बदला लेने की द्वेषभावना आवलित ही रही। वहां उसने देखा कि रानी श्यामावती भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु है। उनके उपदेशों का पालन करती है। मागन्दीया ने अनेक षड्यंत्र रचे। उदयन के मन में श्यामावती के प्रति संदेह पैदा कर दिया। उसे लांछित किया और अंततः उसकी मृत्यु करवा दी। समय पाकर सच्चाई प्रकट हुई तो उदयन ने मागन्दीया को घोर दंड दिया।

मागन्दीया के माता-पिता भगवान के निरामिष दर्शन कर सके और जीवन-मुक्त हो गये, परंतु मागन्दीया ने भगवान के सामिष दर्शन ही किये और अपना अमंगल कर बैठी।

अंधभक्त वक्कलि

वक्कलि नाम का एक विद्वान उपासक भगवान बुद्ध के आश्रम में गया। महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से परिपूर्ण तथागत के सुंदर तेजस्वी शरीर ने, उनके प्रभावशाली ओजस्वी व्यक्तित्व ने उस भावुक उपासक को सहज ही आकर्षित कर लिया। उन भगवान अंगिरस के अंग-अंग से जो प्रभा-रश्मियां प्रस्फुटित हो रहीं थीं, उन्होंने वक्कलि को भावाभिभूत कर दिया। उनके अंतर से उमड़ने वाली अपरिमित मैत्री और करुण-तरंगों का गहरा प्रभाव था ही। वक्कलि ने चाहा कि वह भगवान की इस अनुपम रूप-राशि के सदैव दर्शन करता रहे। अतः घर से बेघर हो, दाढ़ी-मूंछ मुँडा कर प्रव्जित हुआ और भिक्षु-संघ में

सम्मिलित हो गया। केवल इसीलिए कि उसे भगवान का सान्निध्य-सुख अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। अब वह भक्ति के आवेश में अन्य सारे काम छोड़ कर रस-लोलुप भौंरे की तरह भगवान की रूप-माधुरी के चारों ओर मँडराने लगा। न समाधि द्वारा चित्त एकाग्रता का कोई अभ्यास और न ही विपश्यना द्वारा प्रज्ञा जागृत करने का कोई प्रयास। जब देखो तब भगवान के सामने बैठा हुआ, उनके प्रभामंडित चेहरे को अपलक, निर्निमेष देखता रहे। करुणामय भगवान ने देखा कि यह नया भिक्षु भक्ति-भावावेश में इतना अंधा हो गया है कि धर्म का सत्य स्वरूप समझ ही नहीं पा रहा। उन्होंने फटकारते हुए कहा, "अरे नादान भिक्षु! मेरे इस शरीर को पागलों की तरह क्या देख रहा है? मेरी इस रूप-काया में क्या रखा है? यह भीतर से उतनी ही गंदी है, जितनी कि किसी भी अन्य की काया। रूप के दर्शन मूर्खों को आनंदित करने वाला होता है। यदि मुझे देखना है तो मेरे भीतर समाये हुए धर्म को देख। जो धर्म को देखता है, वही मेरे सच्चे स्वरूप को देख पाता है। जो सही माने में मुझे देखता है, वह मेरे भीतर समाये हुए सत्य-धर्म को ही देखता है, बाह्य शरीर को नहीं।"

यो खो धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। यो मं पस्सति, सो धम्मं पस्सति।

और फिर कहा,

अपस्समानो सद्धम्मं, मं पस्सपि न पस्सति।

– यदि सद्धर्म को नहीं देखता है तो मुझे देखते हुए भी नहीं देख रहा है।

महाकारुणिक की इस धर्म फटकार से अंधभक्ति के भावावेश में डूबे हुए वक्कलि भिक्षु के प्रज्ञा-चक्षु खुले। उसे भगवान की यह बात समझ में आई कि वस्तुतः वे धर्म के मूर्त स्वरूप हैं। अतः उनका दर्शन यदि काया-दर्शन तक ही सीमित रहे तो यह पागलपन होगा। उनके दर्शन में सत्यधर्म का दर्शन होना ही चाहिए, और यह सांदृष्टिक निर्वाण धर्म तो अंतर्मुखी होकर स्वयं अपने ही भीतर देखने के लिए है, बाहर नहीं। बात उसकी समझ में आ गई। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा अपने भीतर का सत्य-धर्म-दर्शन किए बिना जीवन भर बुद्ध के चीवर को पकड़े हुए उनके पीछे लगे रहने वाला भी उनसे कोसों दूर है। परंतु उनसे हजार योजन दूर कहीं किसी एकांत में अंतर्मुखी होकर सत्यधर्म का अपने भीतर साक्षात्कार कर लेने वाला बुद्ध के अत्यंत समीप है। धर्म का साक्षात्कार ही बुद्ध का साक्षात्कार है। धर्म का सान्निध्य ही बुद्ध का सान्निध्य है। आखिर बुद्ध क्या है? **सम्यक संबोधि** का जीता जागता स्वरूप ही बुद्ध है। इसीलिए तो तथागत को धर्मकाय और ब्रह्मकाय कहते हैं। धर्मभूत और ब्रह्मभूत कहते हैं।

तथागतस्स अधिवचनं धम्मकायो इतिपि, ब्रह्मकायो इतिपि, धम्मभूतो इतिपि, ब्रह्मभूतो इतिपि।

यह बात समझ में आते ही वक्कलि पर छाया हुआ भक्ति-भावावेश का अंध घटाटोप दूर हुआ। सत्यधर्म का आलोक प्रकाशित हुआ। उसने भगवान से अंतर्मुखी होने की सरल विधि सीखी, विपश्यना साधना का कर्मस्थान सीखा और दूर एकांत में जाकर अभ्यास करने लगा। पुराने भक्ति-भावावेश ने बीच-बीच में कुछ अड़चनें पैदा कीं, परंतु अंततः वह सच्चा साधक निर्वाण का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हुआ। सभी आरुआवों, क्लेशों, संयोजनों और बंधनों को दूर कर, मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ। जब तक साकार देह की रूप-माधुरी के दर्शन करता रहा, तब तक उलझा ही रहा। ज्यों ही धर्मतरंगों के आधार पर भगवान के दर्शन किये यानी सत्य की अनुभूति की, तो सचमुच मुक्त हो गया।

गृहकारक

स्वयं बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम भी जब धर्म-दर्शन कर सके तो ही बुद्ध बन सके। वैशाख पूर्णिमा की रात, निरंजना नदी के तट पर, बोधिवृक्ष के तले जब विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा अनेक पूर्व जन्मों का साक्षात्कार हुआ तो जाना कि इस भवसंसार में बार-बार जन्म दिलाने वाला, हर मृत्यु पर एक नए शरीर रूपी घर का निर्माण कर देने वाला गृहकारक कौन है? इसकी खोज में न जाने कितने जन्म गँवाए, पर सफलता नहीं मिली। बार-बार किसी न किसी लोक में दुखमय जीवन मिलता ही गया। क्योंकि किसी देहधारी साकार सृजनकर्ता की गवेषणा चल रही थी। जब विपश्यना द्वारा सत्य-धर्म का यानी ऋत के दर्शन हुये तो बात समझ में आ गयी। सत्य ही तो ईश्वर है। परम सत्य ही तो परमेश्वर है। अनुभूति के स्तर पर कुदरत का सारा कानून स्पष्ट हो गया। कैसे भव-संसार बनता है? बढ़ता है? कैसे घटता है? समाप्त हो जाता है? यों सत्य के दर्शन करके सम्यक संबोधि प्राप्त हुई, भवचक्र से सर्वथा विमुक्ति प्राप्त हुई।

विपश्यना-शिविरों के दौरान ध्यान की अवस्था में कभी किसी साधक को भ्रामक साकार रूप-दर्शन की घटना घट जाती है, जो कि अंतर्मन पर पड़ी अपनी परंपरागत मान्यता का बाह्य प्रक्षेपण मात्र होता है। अतः सच्चाई से सर्वथा दूर होता है। जैसे किसी को ध्यान के समय ऐसी 'आत्मा' के दर्शन हो जाते हैं, जो अपने शरीर के आकार और माप की होती है। किसी को हृदय की अँधेरी गुफा में 'अंगुष्ठ प्रमाण''आत्मा' के, किसी को 'तिल' के समान और

किसी को ‘बाल’ के समान ‘आत्मा’ के दर्शन हो जाते हैं। भारतीयों को बहुधा किसी भक्तिमार्गी पुस्तक के चित्रकार की उर्वर कल्पना के अनुरूप शरीर के नग्न उर्ध्व भाग पर औरतों की तरह गहने लादे हुए, बिना दाढ़ी-मूंछ वाले ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं तो पश्चिम के किसी साधक को लंबा चोगा पहने हुए सफेद लंबी दाढ़ी-मूंछ वाले ईश्वर के। इनमें से किसी के भी दर्शन द्वारा साधक के मनोविकार जरा भी दूर नहीं होते। यही इसकी भ्रामकता को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। दूसरी ओर जब साधक इस शरीर-चित्त-प्रपंच का यथाभूत ज्ञानदर्शन करता हुआ, उसके अनित्य स्वभाव का स्वानुभव करता हुआ, अपने विकारों से प्रत्यक्ष छुटकारा पाता है और इंद्रियातीत, नित्य, शाश्वत परम सत्य के दर्शन करके अपनी चित्त-निर्मलता को पुष्ट कर लेता है, तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल्पनिक रूप-दर्शन में नहीं, बल्कि अंतर्मुखी हो स्वानुभूति द्वारा निराकार धर्म के, सत्य के दर्शन करने में ही हमारी स्वस्ति-मुक्ति समायी हुई है। इसी में हमारा सही मंगल है, सही कल्याण है।

बुद्ध की सही वंदना

सही वंदना

सही वंदना

बुद्ध के गुण

कोई भक्त अपने आराध्य देव अथवा देवी की वंदना कैसे करे? धर्म की सच्चाई गहराई से समझ में आ जाय तो उसके गुणों को याद करे, उनसे प्रेरणा प्राप्त करे और उन्हें अपने भीतर जगाने और अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करे। यही सही भक्ति होगी, यही सही वंदना होगी।

इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति बुद्ध की वंदना करे तो महत्त्व बुद्ध के गुणों को ही दे। उन गुणों के प्रति श्रद्धान्वित होकर मन में प्रेरणा जगाये और उन्हें अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील हो जाय तो किसी संप्रदाय में नहीं बँधेगा, गुणों से बँधेगा। गुण सार्वजनीन होते हैं। शुद्ध धर्म से बँधेगा। शुद्ध धर्म सार्वजनीन होता है। इस प्रकार यथाशक्ति शुद्ध धर्म धारण करके अपना मंगल साध लेगा।

जब बुद्ध की वंदना करे और धर्मपूर्वक करे तो यही कहे:

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उनको जो भगवान हैं, अरहंत हैं, सम्यक संबुद्ध हैं।

तो नमस्कार गुणों को हुआ। सम्मान गुणों का हुआ। ऐसा गुण धारण करने वाला व्यक्ति कोई हो, गौतम हो, काश्यप हो, या अन्य कोई हो।

इसीलिए शुद्ध धर्म के क्षेत्र में सही वंदना करते हुए यही कहा जाता है;

ये च बुद्धा अतीता च, ये च बुद्धा अनागता।
पच्चुपन्ना च ये बुद्धा, अहं वन्दामि सब्बदा॥

– मैं सर्वदा उन बुद्धों की वंदना करता हूं जो भूतकाल में हुए, उन बुद्धों की वंदना करता हूं जो भविष्यकाल में होंगे और उन बुद्धों की वंदना करता हूं जो वर्तमान काल में हैं।

इस प्रकार की गई वंदना किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि तीनों कालों के बोधिप्राप्त सभी व्यक्तियों की है। तो वंदना गुणों की हुई, इसलिए सही वंदना हुई।

जो भी व्यक्ति सम्यक संबोधि प्राप्त कर लेता है वह अनंत गुणों से भर उठता है। पर उसमें कुछ प्रमुख, प्रधान सद्गुण होते हैं जो इस प्रकार हैं;

वह **भगवान** हो जाता है याने वह अपने भीतर का समस्त राग, द्वेष और मोह भग्न कर लेता है और इस प्रकार भाग्यवान हो, इसी जीवन में विमुक्ति के वैभव का ऐश्वर्यमय जीवन जीता है।

वह **अरहंत** हो जाता है। अपने सभी अरियों यानी शत्रुओं का हनन कर लेता है। कौन है शत्रु? कोई बाहरी व्यक्ति हमारा शत्रु नहीं हुआ करता। हमारे अपने आंतरिक मनोविकार, क्लेश, कषाय ही सही माने में हमारे शत्रु हैं और इन्हीं शत्रुओं का हनन करके, खात्मा करके ही कोई व्यक्ति अरहंत होता है, बुद्ध होता है। वह लोकचक्र को धर्मचक्र के आरे से काट देता है, इस माने में भी अरहंत हो जाता है।

ऐसा व्यक्ति **सम्यक संबुद्ध** हो जाता है। सम्यक याने भली प्रकार से, सही प्रकार से संबुद्ध हो जाता है। संबुद्ध यानी स्वयं बोधि प्राप्त कर लेता है। जब तक सत्य को स्वयं प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा न जान ले, तब तक केवल सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बात से कोई व्यक्ति संबुद्ध नहीं हो सकता। सत्य के बारे में केवल सुन लेने या पढ़ लेने से अथवा उसे श्रद्धा से या बुद्धि से मात्र स्वीकार कर लेने से कोई व्यक्ति संबुद्ध नहीं हो सकता। केवल शील के बल पर ही नहीं, केवल चित्त को अडोल, अविचल कर देने वाली समाधि के बल पर ही नहीं, बल्कि स्वयं अपनी प्रज्ञा द्वारा सत्य को जान लेता है, वही संबुद्ध होता है। प्रज्ञा भी मात्र श्रुतमयी नहीं, मात्र चिंतनमयी नहीं, बल्कि भावनामयी प्रज्ञा द्वारा स्वानुभूति के आधार पर नाम और रूप के याने चित्त और शरीर के अनित्यधर्मा स्वभाव का साक्षात्कार करके और फिर इस अनित्य क्षेत्र को भी बींधते हुए नित्यधर्मा परम सत्य निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है, तो ही सम्यक संबुद्ध होता है।

इंद्रिय क्षेत्र की सभी सुखद-दुखद अनुभूतियां अनित्यधर्मा हैं, अनात्मधर्मा हैं और इसी कारण वस्तुतः दुखधर्मा हैं। इस दुःख आर्य-सत्य का स्वयं साक्षात्कार करता है, जो अनित्यधर्मा है, अनात्मधर्मा है। उसके प्रति राग-द्वेषमयी तृष्णा जगाने के कारण ही दुख की उत्पत्ति होती है। इस समुदय-सत्य को भी स्वानुभूति द्वारा जान लेता है। जिसकी उत्पत्ति कारण से हो, उसका निवारण किया जा सकता है। कारण के निवारण से उसका निवारण साध्य है, यह समझ कर दुख के कारण 'तृष्णा' का पूर्णतया निवारण करके दुख-विमुक्ति के सत्य की स्वयं अनुभूति करके साक्षात्कार कर लेता है। इस तृष्णा-निवारण का कोई तरीका होना चाहिए, कोई विधि होनी चाहिए। उस

विधि को भी स्वयं भावित करके अनुभूतियों के स्तर पर जान लेता है और दुख से छुटकारा पा लेता है। ऐसा स्वयं कर लेता है, तो ही स्वयं बुद्ध होता है यानी संबुद्ध होता है। सम्यक रूप से यह अवस्था प्राप्त कर लेता है। इसीलिए सम्यक संबुद्ध कहलाता है।

कोई व्यक्ति बुद्ध होता है तो **विज्जाचरणसम्पन्नो** हो जाता है, यानी विद्या और आचरण दोनों में संपन्न हो जाता है। क्या है विद्या? क्या है आचरण? विद्या वह जो अविद्या को दूर करे। अविद्या वह जो सच्चाई पर आवरण डाले, उसके प्रति भ्रम पैदा करे। जो वस्तुतः अनित्य है उसके प्रति नित्य होने का भ्रम। जो वस्तुतः अनात्म है, **मैं** नहीं, **मेरा** नहीं, **मेरी आत्मा** नहीं, उसके प्रति **मैं, मेरा, मेरी आत्मा** होने का भ्रम। जो वस्तुतः दुख है उसके प्रति सुख होने का भ्रम पैदा करे। यह भ्रम दूर हो तथा अनित्य, दुख और अनात्म के स्वभाव को वास्तविकता के स्तर पर समझ ले तो अविद्या दूर हुई, विद्या स्थापित हुई। इसी प्रकार जो दुख है, जो दुख का मूल कारण है, जो दुख का निवारण है और जो दुख के निवारण का उपाय है, उसे भली भांति जान ले तो अविद्या दूर हुई, विद्या स्थापित हुई।

लेकिन केवल विद्या में संपन्न होना पर्याप्त नहीं है। इसके आचरण में भी संपन्न हो तो ही बुद्ध होता है। क्या है आचरण? इन सच्चाइयों को केवल बुद्धि के स्तर पर ही समझ कर न रह जाय, बल्कि वास्तविक प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर जान ले तो ही आचरण में संपन्न हुआ। धर्म का केवल सैद्धांतिक पक्ष ही नहीं जाने, उसके व्यावहारिक पक्ष को भी जीवन में उतारे, तो ही आचरण में संपन्न हुआ।

जो व्यक्ति बुद्ध होता है वह **सुगतो** होता है, यानी सुगत होता है, याने उसने अच्छे मार्ग पर गमन किया है। कायिक कर्म और वाचिक कर्म को सुधारते हुए मनोकर्म को भी इस कदर सुधार लिया है कि अब कोई ऐसा कर्म कर ही नहीं सकता, जो किसी की किंचित मात्र भी हानि कर दे। लोक कल्याण ही लोक कल्याण करता है। ऐसा व्यक्ति मानस के ऊपरी-ऊपरी विकारों का ही प्रहाण करके नहीं रह गया, बल्कि अंतर्मन की गहराइयों तक अनेक जन्मों के संचित अनुशय-क्लेशों को भी जड़ से उखाड़ कर पूर्णतया विकार-विमुक्त हो गया है। स्थूल सत्यों का साक्षात्कार करते-करते; स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम परमपद निर्वाण तक का साक्षात्कार कर चुका है। शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर भली प्रकार गमन किया है और निर्वाण की याने मुक्ति की अवस्था तक पहुँच गया है। विपश्यना साधना करते

हुए स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी के मार्ग पर सुगमता से चला हुआ अरहंत मार्ग-फल की अवस्था तक जा पहुँचा है तो ही सही माने में बुद्ध हुआ है, सुगत हुआ है।

जो बुद्ध होता है वह **लोकविदू** होता है, यानी लोकों को जानने वाला होता है। ऋद्धिबल से वह समस्त लोकों की यात्रा कर सकता है। उन्हें जब चाहे अपने दिव्य चक्षुओं से देख सकता है। सर्वज्ञ हो जाने के कारण उनके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकता है। लेकिन केवल इन्हीं अर्थों में लोकविदू नहीं है। इस साढ़े तीन हाथ की काया में सारे लोकों का अनुभव कर लेता है। नीचे के लोकों से लेकर मनुष्य लोक, देवलोक, रूप ब्रह्मलोक और अरूप ब्रह्मलोक की अनुभूति इसी कायपिंड में की जाती है। ठीक ही कहा गया है कि लोकों की उत्पत्ति, उनकी उत्पत्ति का कारण, उनका निरोध और उनके निरोध का उपाय इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही है। लोक का अंत किये बिना कोई व्यक्ति मुक्त नहीं बन सकता। बुद्ध होता है तो समस्त लोकों को अपने भीतर जान कर उनका निरोध कर, उनके परे लोकोत्तर निर्वाण अवस्था का अपने भीतर ही साक्षात्कार कर लेता है। तभी लोकविदू कहलाता है।

बुद्ध होता है तो **अनुत्तरो** होता है यानी अनुत्तर होता है। जिस अवस्था पर यह व्यक्ति पहुँच गया है इससे ऊंची अन्य कोई अवस्था नहीं, इस माने में अनुत्तर है।

बुद्ध होता है तो **पुरिसदम्मसारथी** होता है, यानी जिस प्रकार एक अनुभवी सारथी बिगड़ैल घोड़ों को सुशिक्षित बना देता है, ऐसे ही गलत रास्ते पड़े हुए लोगों को सही रास्ते पर लगाने में वह कुशल होता है।

बुद्ध होता है तो **सत्था देवमनुस्सानं** होता है।

बुद्धत्व प्राप्त करने पर उसके मन में असीम, अपरिमित करुणा भर उठती है। अरे! संसार में कितने दुखियारे हैं? यह सच है कि अधिकांश लोग विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल में उलझे हैं, सांप्रदायिक जकड़न में जकड़े हैं, कर्मकांडों के कारागार में कैद हैं। शुद्ध धर्म जो कुदरत का सार्वजनीन कानून है, उसे समझ भी नहीं पाएंगे। समझने की कोशिश भी नहीं करेंगे। परंतु इनमें से अनेक लोग ऐसे अवश्य हैं जिनकी आंखों पर अज्ञान का बड़ा झीना-सा ही पर्दा पड़ा है। उनका तो कल्याण हो। ऐसे बहुतों का हित हो। बहुतों का सुख सधे। कोई भी व्यक्ति जो बुद्ध हुआ, वह इन मंगलभावों से भर कर बिना किसी भेदभाव के अपनी ओर से सब को शुद्ध धर्म बांटता है। लोगों को शुद्ध धर्म में अनुशासित करता है। अतः उनका शास्ता कहलाता है। शास्ता गरीबों का भी,

अमीरों का भी। शास्ता विद्वानों का भी, अनपढ़ों का भी। शास्ता धनपतियों का भी, धनहीनों का भी। शास्ता पुरुषों का भी, नारियों का भी। शास्ता राजाओं का भी, प्रजाओं का भी। शास्ता देवों का भी और मनुष्यों का भी। महाकारुणिक शास्ता।

जब-जब बुद्ध की वंदना करें तो समझें कि सही वंदना तभी होगी जब बुद्ध के उपरोक्त गुणों को याद करें। अच्छा हो इन पावन पुरातन शब्दों में याद करें;

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवाति।

ऐसे हैं बुद्ध, ऐसे हैं भगवान! तभी हैं बुद्ध, तभी हैं भगवान!

बुद्ध के इन गुणों को याद करके अपने भीतर प्रेरणा जगाएं और वैसे ही गुण अपने में जगाने के सत्प्रयत्न में लग जायँ, तभी सही माने में बुद्ध का सम्मान है, बुद्ध की वंदना है और तभी सही माने में हमारा अपना मंगल-कल्याण है।

पांच सहयोगी

समय बीतता है। किसी बुद्ध के सिखाए हुए पुरातन शुद्ध धर्म में नाना प्रकार की अशुद्धियां आ जाती हैं। लोग मुक्तिदायिनी शुद्ध साधना करनी भूल जाते हैं। धर्म के नाम पर किसी न किसी सांप्रदायिक जंजाल को अपने गले का हार बना लेते हैं। कर्मकांड प्रमुख हो जाते हैं। बाह्य आडंबर प्रधान हो जाते हैं और फिर भिन्न-भिन्न थोथी काल्पनिक दार्शनिक मान्यताओं का घटाटोप सच्चाई के मुक्तिपथ को आंखों से ओझल कर देता है।

ऐसे समय कोई व्यक्ति सत्य की खोज करता हुआ फिर शुद्ध मार्ग ढूंढ निकालता है। स्वयं उस पर आरूढ़ होकर परम-सत्य के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचता है और शुद्ध-बुद्ध हो जाता है। भव-संस्कारों की बेड़ियां तोड़ कर भवबंधन से पूर्णतया उन्मुक्त हो जाता है। लोकीय और लोकोत्तर सभी सच्चाइयों से पूर्णतया भिज्ञ हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जगत-जंजाल में उलझे हुए लोगों की दयनीय दशा देख कर असीम करुणा से भर उठता है। जानता है कि सारे लोग मुक्ति के इस कठिन मार्ग पर चल कर अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायेंगे, पर जितने इसके योग्य हैं, उन्हें तो यह विमुक्ति पथ मिले। अन्य लोग भी जितने-जितने चल पायेंगे उतने-उतने तो लाभान्वित होंगे ही। इस जन्म में नहीं तो किसी भावी जन्म में मुक्त हो जायेंगे। कोई इस मुक्ति-मार्ग पर एक कदम भी नहीं चलना चाहेगा तो क्या किया जाय? ऐसा व्यक्ति अपने ही मंगल

से वंचित रह जायेगा। समीप ही गंगा बहती हो तो भी प्यासा का प्यासा रह जायेगा। पर जो जितना लाभ उठा पायेंगे, उतना तो उठाएं। उन्हें वंचित क्यों रखा जाय? इस अत्यंत करुण चित्त से मार्ग प्रकाशित करने के लिए कृतसंकल्प होता है। आरंभ में कुछ कठिनाइयां आती हैं। भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों में उलझे हुए लोग मन में शंकाएं जगाते हैं। क्या यह व्यक्ति सचमुच बुद्ध हो गया है? यह जो बताता है क्या यह सचमुच मुक्ति का मार्ग है? हमारी परंपरागत मान्यता से तो मेल नहीं खाता, सही मार्ग कैसे होगा? आदि-आदि शंकाएं, कुशंकाएं मन में जगाते हैं। पर उसकी अमृत वाणी सुन कर धीरे-धीरे आश्वस्त होते हैं। स्वानुभूति द्वारा उनके प्रति और मुक्तिदायिनी साधना-विधि के प्रति सर्वथा निःशंक हो जाते हैं।

भगवान गौतम बुद्ध सम्यक संबोधि प्राप्त कर जब अपने पांच तपस्वी साथियों को विमल विमुक्ति का मार्ग दिखाने ऋषिपत्तन मृगदाय गये तो यही हुआ। उनकी जन्मभूमि शाक्य प्रदेश से आए हुए ये पांचों साथी जो लगभग छह वर्ष तक उनके साथ रह कर भिन्न-भिन्न साधनाओं में उनका साथ देते रहे, उनके प्रति इस प्रकार शंकालु बन गये थे। अपनी अंधी मान्यता का आवरण उन्हें यह स्वीकार ही नहीं करने देता था कि यह व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बन गया होगा। उन्होंने इसे कायदंडन की घोर तपस्या करते हुए देखा था। ऐसी दुर्द्धर्ष दुष्कर-चर्या, जो सामान्य व्यक्ति के लिए बिल्कुल असंभव थी। परंतु उससे किंचित मात्र भी लाभ न देख कर जब उसे त्याग दिया और मध्यम मार्ग अपनाया तो ये पांचों के पांचों बड़े निरुत्साहित हुए। अंध मान्यताओं के गुलाम, वे यह स्वीकारने को ही तैयार नहीं कि कायदंडन के अतिरिक्त मुक्ति का और भी कोई मार्ग हो सकता है। उनकी दृष्टि में तो जिसने देहदंडन का मार्ग छोड़ दिया, उसने मुक्ति का मार्ग छोड़ दिया। ऐसा व्यक्ति बुद्ध कैसे हो सकता है? शंकाएं ही शंकाएं, अश्रद्धा ही अश्रद्धा। यहां तक कि उसे दूर से आता देख कर सामान्य शिष्टाचारजन्य स्वागत-सत्कार करने को भी तैयार नहीं थे।

परंतु भगवान की सत्य-निष्ठ वाणी से कुछ प्रभावित होकर उनका उपदेश सुना। जब भगवान ने कहा कि मैंने जीवन-जगत की चारों सच्चाइयों को केवल बुद्धि के स्तर पर चिंतन-मनन करके ही नहीं स्वीकारा है, मैंने अपने भीतर उनका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। जो कुछ कहता हूं, स्वानुभव के आधार पर कहता हूं। मैंने केवल दुःख और दुःख के मूलभूत कारण का सारा क्षेत्र ही अनुभूति के स्तर पर नहीं जान लिया, बल्कि दुःख का नितांत निरोध और निरोध के उपाय को भी स्वयं अनुभव करके जान लिया है।

कायाकष्ट की कठोर दुष्कर-दुश्चर्या को त्याग कर भी कोई व्यक्ति दुःखविमुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है, इसका पूरा विश्वास नहीं हो रहा था। परंतु उन्होंने जब भगवान की वाणी को अनुभव पर उतारा तो एक के बाद एक स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त करते हुए नितांत विमुक्त अरहंत अवस्था उपलब्ध कर ली। अब शंका-संदेह के लिए स्थान ही नहीं रह गया। प्रत्यक्ष से बढ़ कर प्रमाण ही क्या?

भगवान के यह पांचों पुराने सहयोगी अपने अन्य अरहंत साथियों सहित धर्मचारिका के उस प्रथम अभियान में सम्मिलित हुए जिसके अंतर्गत एक-एक अरहंत ने अलग-अलग मार्ग पर जाकर नगर-नगर, गांव-गांव और घर-घर में शुद्ध धर्म का संदेश पहुँचाया और असीम अनुकंपापूर्वक बहुजन हितसुख में लग गये। कृतज्ञता-विभोर हो लोकसेवा में लग गये। अपने शास्ता के प्रति उनकी यही सही वंदना हुई।

महाप्रजापती गौतमी

अहं सुगत ते माता, त्वं च वीर पिता मम।

– हे सुगत (बुद्ध), मैं तुम्हारी माता हूं। और हे वीर (बुद्ध), तुम मेरे पिता हो।

एक सौ बीस वर्ष की पूर्ण पकी हुई अवस्था। देह त्यागने और परिनिर्वाण प्राप्त करने की ओर आमुख। ऐसे समय महाप्रजापती गौतमी द्वारा भगवान बुद्ध के प्रति प्रकट किये गये यह हृदयोद्गार कितने अटपटे हैं। लेकिन साथ ही कितने सार्थक भी।

शिशु सिद्धार्थ गौतम जन्म के सातवें दिन मातृविहीन हो गये। जन्मदायिनी माता महामाया स्वर्ग सिधार गयी। महाप्रजापती गौतमी महामाया की ही सगी छोटी बहन। दोनों बहनें कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन को एक साथ ब्याही गयीं। जन्मदायिनी माता महामाया के स्वर्ग सिधारने पर शिशु सिद्धार्थ की मौसी मां प्रजापती ही उनकी क्षीरदायिनी ममतामयी माता हुई। स्वयं अपने जन्मे पुत्र नंद को दूध देने वाली किसी धाय को सौंप कर उसने शिशु सिद्धार्थ को अपने अंक से लगाया और अपना दूध पिलाकर बड़े प्यार से पाला। इसीलिए कहती है, **अहं सुगत ते माता** – हे बुद्ध! मैं तुम्हारी माता हूं।

माता गौतमी ने वृद्धावस्था में अत्यंत आग्रहपूर्वक भगवान से प्रव्रज्या ली, उपसंपदा ली, भिक्षुणी बनी और विपश्यना साधना की कल्याणकारिणी विधि

सीख कर सारे कर्म-क्लेशों से मुक्त हो अर्हंत अवस्था प्राप्त की। जिन्होंने भी भगवान से सद्धर्म प्राप्त कर मुक्ति का मार्ग पाया वे सभी पुरुष भगवान के औरस पुत्र, वे सभी नारियां भगवान की औरस पुत्रियां कहलायीं। उम्र और सांसारिक संबंधों के कारण कोई व्यवधान बाधा नहीं मानी गयी। इसलिए कहा, **त्वं च वीर पिता मम** – हे बुद्ध! तुम मेरे पिता हो।

परम साध्वी महाप्रजापती अत्यंत प्रसन्न चित्त है। थोड़े समय बाद ही वह अपना शरीर छोड़ेगी। यह उसकी अंतिम मृत्यु होगी। आगे जन्म होने वाला नहीं है। अतः भविष्य में कोई मृत्यु भी नहीं है। सदा के लिए भवचक्र से मुक्ति मिलेगी। अपने परम उपकारक पुत्र और साथ ही पिता भगवान गौतम बुद्ध के प्रति कृतज्ञता के उद्गार प्रकट करती हुई महाप्रजापती कहती है:

"हे पिता! तुमने मुझे सद्धर्म में जन्म दिया।

"हे पुत्र! मैंने तुम्हें अपने स्तनों का दूध पिला कर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए तुम्हारी क्षुधा-पिपासा बुझायी।

"परंतु हे पिता! तुमने मुझे सद्धर्म का परम शांतिदायी अमृतरस पिला कर सदा के लिए मेरी जन्म-जन्म की तृष्णा बुझायी।

"हे पुत्र! मैंने तुम्हारे भौतिक शरीर के संवर्धन के लिए तुम्हें दुग्धपान कराया।

"बदले में, हे पिता! तुमने मेरी निर्मल धर्मकाया के संवर्धन के लिए मुझे अमृत-पान कराया।

"इस संसार में किसी नारी के लिए राजमहिषी और राजमाता कहलाना भले सुलभ हो, परंतु बुद्धमाता कहलाना सचमुच अत्यंत दुर्लभ है। हे पुत्र! तेरे कारण ही मुझे यह गौरवशाली पद सुलभ हुआ।"

निष्काम सेवाभाव और कृतज्ञता, यह दोनों बड़े अनमोल सद्गुण हैं। इसीलिए दुर्लभ हैं। धर्मनिष्ठ व्यक्ति स्वभाव से ही इन दोनों सद्गुणों से संपन्न होता है। इसी कारण साध्वी प्रमुखा महाप्रजापती का हृदय कृतज्ञता के भावों से सराबोर है। उस धर्ममयी की वाणी के एक-एक शब्द से कृतज्ञता का धर्मरस चूता है।

वह अपने अभिज्ञान धर्मबल से अपने अनेक पूर्व जन्मों का स्मरण करती है और कहती है, "इस संसार में मैं कितनी बार कहीं किसी की माता, किसी का पुत्र, किसी का पिता, किसी का भाई, किसी की दादी, नानी बनी। परंतु प्रत्युत्पन्न सत्य को यथाभूत देख सकने की विपश्यना-विधि न जानने के कारण इस भवचक्र में, बिना कुछ पाए, बिना रुके संसरण ही करती रही।

"इस बार मैंने मार्गदर्शक शास्ता भगवान बुद्ध को पहचान लिया –

परिचिण्णो मया सत्था।

"इस बार मैंने भगवान के दर्शन (जिस प्रकार करना चाहिए वैसे) कर लिये –

दिट्ठोहि मे सो भगवा।

"और परिणामस्वरूप मैं मुक्त हो गयी हूं। अब यह मेरा अंतिम शरीर है। भव-संसार में अब मेरा जन्म क्षीण हो गया है। आवागमन बंद हो गया है। अब मेरा पुनर्भव नहीं है।"

"मैंने सारे दुखों का परिज्ञान प्राप्त कर लिया है, याने उनकी उत्पत्ति से लेकर पूर्ण क्षय तक की सभी अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लिया है। फलस्वरूप दुखों के मूल कारण तृष्णा के स्रोत को सुखा लिया है। आर्य अष्टांगिक मार्ग की भावना करके मैंने इंद्रियातीत निर्वाणिक परम सत्य का अनुभव कर लिया है।"

"जिस प्रकार मेरे दुख कटे हैं, उसी प्रकार भगवान बुद्ध से प्राप्त प्रशिक्षण के कारण जन्म, जरा, व्याधि और मरण के बंधनों में बँधे हुए अनेक लोगों के दुख-पुंज कटे हैं।"

ऐसे अवसर पर प्रजापती अपनी स्वर्गीया बहन महामाया का स्मरण करती है और कृतज्ञता-विभोर होकर कहती है;

बहूनं वत अत्थाय माया जनयि गोतमं।

'हे माया! तूने सचमुच बहुतों के कल्याण के लिए ही गौतम को जना।'

और भगवान के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट करते हुए कहती है;

"हे भगवन! आपने मुझे और मेरी तरह अनेकों को दुःखों से उबारा है। प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हे बुद्ध! हे वीर! तुम्हें नमस्कार है।"

वह सही प्रकार के बुद्ध-नमस्कार को खूब समझती है। सही ढंग से किये गये नमस्कार के परिणामस्वरूप ही तो वह स्वयं मुक्त हुई थी। उसे कैसे भूलती भला? अतः औरों को भी वैसा ही नमस्कार करने का उपदेश देती है।

उस महावत्सला के शीघ्र परिनिर्वाण की घोषणा सुन कर साध्वी-संघ की वे भिक्षुणियां जो अभी मुक्त अवस्था को नहीं प्राप्त हुई थीं, उस ममतामयी के बिछोह का दुःख न सह सकने के कारण करुणक्रंदन करने लगीं। धर्ममयी साध्वी प्रमुखा महाप्रजापती गौतमी ने उन्हें समझाते हुए कहा;

“अरे! यह तो आनंद-भेरी बजने की मंगल-बेला है। जन्म-मृत्यु के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने का पावन उत्सव है। मेरी प्यारी पुत्रियों! ऐसे समय तुम्हारी आंखें गीली क्यों हैं?”

और फिर कहा;

सचे मयि दया अत्थि, यदि चत्थि कतञ्ञुता।
सद्धम्मट्ठितिया सब्बा, करोथ विरियं दळ्हं॥

“यदि सचमुच तुम्हारे मन में मेरे प्रति करुणा के भाव अथवा कृतज्ञता के भाव जागे हैं तो उन्हें प्रकट करने का एकमात्र तरीका यही है कि तुम सद्धर्म में प्रतिष्ठित होने के लिए दृढ़ पुरुषार्थ करो।”

यही सच्ची वंदना है। यही सच्चा सम्मान है।

इसी प्रकार भिक्षुओं में जो मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे वे भी इस प्रसंग से शोक-विह्वल हो उठे। भगवान बुद्ध का चचेरा भाई याने महाप्रजापती का भतीजा भिक्षु आनंद भी शोक-संतप्त हो उठा। उसे समझाते हुए इस धर्ममयी की मंगलवाणी फूटी –

“गंभीर ज्ञानसागर भगवान बुद्ध की सेवा में निरंतर तत्पर रहने वाले आनंद! इस हर्ष की बेला में तुम्हारा शोक प्रगट करना शोभनीय नहीं है। तुम्हारे ही सत्प्रयत्नों से मुझे भगवान से प्रव्रज्या मिली और यह कल्याणकारी साधना मिली, जिससे कि निर्वाण का साक्षात्कार हुआ, मुक्ति का साक्षात्कार हुआ।

मा पुत्त विमनो होहि

– हे पुत्र! तू दुर्मन, दुःखी मत हो।

मुझसे स्नेह है तो मुक्ति के मार्ग पर परिश्रम ही कर।

सफलो ते परिस्समो।

– तेरा परिश्रम सफल होगा।

यही सच्ची वंदना है। यही सच्चा सम्मान है।

और फिर इसी अवसर पर एक पूर्व प्रसंग की प्रेरणादायक घटना कह सुनायी। तब प्रव्र्जित हुए थोड़े ही दिन हुए थे। अभी अरहंत अवस्था का साक्षात्कार नहीं हुआ था। एक दिन धर्मसभा में धर्म सिखाते हुए भगवान को छींक आ गयी। साध्वी गौतमी ने अपने पूर्व मातृ-स्वभाव के अनुसार अपने पुत्र के प्रति मंगल कामना के ये शब्द कहे,

चिरंजीव महावीर, कप्पंतिट्ठ महामुने।
सब्बलोकस्स अत्थाय, भवस्सु अजरामरो॥

"हे महावीर! तुम चिरकाल तक जीओ। हे महामुनि! तुम कल्प भर प्रतिष्ठित रहो। सकल लोक के भले के लिए तुम अजर रहो, अमर रहो।"

भगवान को यह वंदना, यह मंगल कामना उचित नहीं लगी। उन्होंने कहा, "प्रजापती ने इस समय मेरी जैसी वंदना की, वह अनुचित है। उचित नहीं।"

प्रजावती ने उत्सुकतावश पूछा;

"भगवन! आप सर्वज्ञ हैं। हमें किस प्रकार आप की वंदना करनी चाहिए और किस प्रकार नहीं करनी चाहिए? कृपया इसे समझाइए।"

समीप ही सामूहिक साधना में लगे हुए साधक-संघ की ओर संकेत करते हुए भगवान ने कहा;

आरद्ध विरिये पहितत्ते, निच्चं दळ्ह परक्कमे।
समग्गे सावके पस्स, एतं बुद्धान वन्दनं॥

एतं बुद्धान वन्दनं।

– यह है बुद्धों की वंदना।

देखो! ये श्रावक संघ किस प्रकार एकत्र होकर समग्र रूप से साधना में लगे हैं। चित्त-शुद्धि के लिए नित्य दृढ़ पराक्रम करते रहते हैं। सचमुच यही है बुद्धों की वंदना।

कोई भी समझदार बुद्ध-श्रावक किस प्रकार बुद्ध की वंदना करे भला? उनके बताए हुए साधना के मार्ग पर दृढ़ संकल्प से आरूढ़ हो जायँ और अपना मंगल साध लें! शास्ता की इससे बढ़ कर और कोई पूजा-वंदना हो ही नहीं सकती।

सद्धर्म का प्रतिपादन करके ही कोई व्यक्ति बुद्ध की सही वंदना करता है। शील समाधि प्रज्ञा का अनुशीलन करके ही कोई व्यक्ति बुद्ध की सही पूजा करता है।

इमाय धम्मानुधम्मपटिपत्तिया बुद्धं पूजेमि।

सयाजी ऊ बा खिन

पच्चीस सौ वर्षों की स्वस्थ परंपरा। साधना के धरातल पर भगवान बुद्ध को की गयी सही वंदना की यह विधि गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा ब्रह्मदेश में

प्रवाहित होती चली गयी, भले एक क्षीण धारा के रूप में ही प्रवाहित होती रही। परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के जीवनकाल में इस धारा के दर्शन होते थे। अधिकांश श्रद्धालु जनता और अनेक नए-नए साधक लोकाचार के अनुकूल उनको तीन बार झुक कर नमस्कार करते थे और यों अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। परंतु जो गंभीर साधक थे, वे जब नमस्कार करें तो इस शुद्ध परंपरा के अनुसार ही करें; ऐसा गुरुदेव सिखाते थे। प्रणाम करते हुए पहली बार झुकने के पूर्व साधक अपने सिर के सिरे पर उदय-व्यय की तरंगों की अनुभूति करे और अनित्यबोध जगाते हुए नमस्कार करे। दूसरी बार इसी उदय-व्यय वाली संवेदना के आधार पर दुःखबोध और तीसरी बार अनात्मबोध जगाते हुए ही नमन करे। तो ही सही माने में नमस्कार हुआ। नहीं तो यंत्रवत कर्मकांड हो गया। कभी-कभी किसी पुराने साधक के नमस्कार करने पर गुरुदेव उससे प्रश्न कर लेते थे, "क्यों रे! कैसे नमन किया तूने? प्रज्ञापूर्वक किया या नहीं?"

कभी कभी साधक यंत्रवत नमस्कार करने के बाद स्वयं होश में आ जाता तो पुनः धर्म-प्रज्ञापूर्वक तीन बार नमन करता।

शरीर और चित्त-प्रपंच के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वभाव को अनुभूतियों के स्तर पर समझता हुआ विपश्यी साधक सर्वथा निःसंगभाव से वंदना करता है तो ही सही वंदना होती है। सही पूजन होता है। सही सम्मान होता है।

एतं बुद्धान वन्दनं!

और इसी में साधक का सही कल्याण निहित होता है।

श्रेष्ठि अनाथपिंडिक

कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती। सेठ अनाथपिंडिक ने करोड़ों की संपदा लगा कर जेतवन में महाविहार बनाया। भगवान वर्षावास के दिनों उस विहार में रहते और लोगों को धर्म सिखाते। वर्षावास के बाद वे अन्य प्रदेशों के लोगों को धर्म बांटने के लिए चारिका के लिए निकल पड़ते। भगवान के निवास काल में विहार में जो चहल-पहल रहती, वह उनकी अनुपस्थिति में बहुत कम हो जाती। वातावरण उतना जीवंत नहीं रहता, फीका पड़ जाता। कुछ एक नगर-निवासी भक्तजन विहार में आते। भगवान के निवास की खाली कुटी के सामने श्रद्धा के फूल चढ़ा कर चले जाते। पर उन्हें संतोष नहीं होता। श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उन्हें कोई ठोस आधार चाहिए था। श्रेष्ठि अनाथपिंडिक को यह कमी खलती। लोग चाहते थे कि भगवान की अनुपस्थिति में वहां कोई

मंदिर हो, जहां वे अपनी श्रद्धा प्रकट कर सकें। उन दिनों यह प्रथा थी। लोग अपने श्रद्धाभाजन देवी, देवता, यक्ष, ब्रह्मा अथवा संतों के नाम पर चैत्य बनाते थे, मंदिर बनाते थे। इनमें अपने इष्ट की मूर्ति अथवा चिह्न स्थापित करते थे। इन चैत्यों व देवस्थानों पर अकेले अथवा समूह में भक्तजन जाते, पूजन-अर्चन करते, पत्र-पुष्प चढ़ाते, धूप-दीप जलाते, मनौती मनाते और मनौती पूरी होने पर उत्सव मंगल मनाते। यों इन देवस्थानों पर बड़ी धूमधाम और चहलपहल बनी रहती।

श्रेष्ठि अनाथपिंडिक चाहता था कि ऐसा ही कुछ जेतवन पर भी हो, जिससे भगवान की अनुपस्थिति में भी वहां चहलपहल बनी रहे। उसने अपनी मनोकामना भिक्षु आनंद के सामने प्रकट की। आनंद ने बहुत व्यवहार कौशल्य से यह बात भगवान तक पहुँचायी। उसने भगवान से पूछा, “भंते भगवन! चैत्य कितने प्रकार के होते हैं?”

भगवान ने कहा, “तीन प्रकार के– शारीरिक, उद्देसिक और पारिभोगिक।” आनंद ने पूछा, “भगवान! क्या बुद्ध के जीते-जी उनके नाम पर कोई चैत्य बनाया जा सकता है?”

भगवान ने कहा, “शारीरिक चैत्य तथागत के शरीर त्यागने पर उनकी अस्थि-अवशेषों पर ही बन सकता है। उद्देसिक चैत्य में मूर्ति, चिह्न आदि की स्थापना द्वारा मनोकल्पना की प्रमुखता होती है। हां, पारिभोगिक चैत्य तथागत के जीवनकाल में भी बन सकता है।”

आनंद ने अनाथपिंडिक की इच्छा सामने रखते हुए जेतवन में ऐसा एक पारिभोगिक चैत्य स्थापित करने की भगवान से स्वीकृति मांगी, ताकि उनकी अनुपस्थिति में जेतवन जन-शून्य और उत्साह-शून्य न हो जाया करे।

यह तो स्पष्ट था कि भगवान के परिनिर्वाण के बाद उनके द्वारा प्रयोग में लाये हुए भिक्षापात्र, चीवर, लकुटी आदि वस्तुओं पर चैत्य बनने लगेंगे। परंतु जीते-जी वे ऐसी परंपरा स्थापित करना चाहते थे, जो परम अर्थ के क्षेत्र में स्वस्थ हो, कल्याणकारिणी हो। वह अपनी उपभोग की हुई किसी भौतिक वस्तु पर कोई चैत्य बनवाना नहीं चाहते थे। लोकोत्तर निर्वाण की प्राप्ति के लिए जिसका उपभोग किया, वह तो बोधिवृक्ष था। अतः आनंद का ध्यान उसी ओर खींचते हुए भगवान ने कहा, “तथागत के जीते जी बोधिवृक्ष ही पारिभोगिक चैत्य होता है, जिसकी छाया में बैठ कर अन्य लोग भी निर्वाण के सुख का रसास्वादन कर सकें।”

आनंद को यह बात बहुत भायी। उसने महामोग्गल्लान से प्रार्थना की और उनके जरिए बोधगया के बोधिवृक्ष का बीज मँगवाया और महाराज प्रसेनजित, माता विशाखा तथा अन्यान्य भक्तों की उपस्थिति में, जेतवन के मुख्य द्वार के समीप श्रेष्ठि अनाथपिंडिक द्वारा इसका आरोपण करवाया। जब वृक्ष बढ़ कर तैयार हुआ तो आनंद के सत्प्रयत्नों से लगाया गया था, इसलिए 'आनंदबोधि' कहलाया।

आनंद ने भगवान से प्रार्थना की कि जिस प्रकार उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे रात भर साधना की थी, उसी प्रकार यहां भी करें। पहली बार सम्यक संबोधि जगाने वाली साधना तो अद्वितीय ही होती है। फिर भी भगवान ने साधकों के कल्याण के लिए आनंदबोधि के नीचे एक पूरी रात निरोध समापत्ति की साधना की और उस स्थान के अणु-अणु को निर्वाणधातु और धर्मधातु की तरंगों से आप्लावित कर चिरकाल के लिए परम पावन बना दिया।

सर्वसाधारण सामान्य गृहस्थ ही नहीं, अनेक ऐसे भिक्षु भी जो भगवान के साधना-संबंधी गंभीर धर्म में परिपक्व नहीं हो पाये थे, वे भगवान के जीवनकाल में ही इस आनंदबोधि रूपी चैत्य पर श्रद्धा, भक्तिपूर्वक पुष्प आदि चढ़ा कर पुण्य अर्जित करते रहे और यह परंपरा आगे भी चलती रही। परंतु साथ-साथ एक अन्य परंपरा गंभीर साधकों की भी थी। उन्होंने भगवान के जीवनकाल में और तत्पश्चात भी आनंदबोधि का उपयोग साधना के लिए किया। आनंदबोधि आज भी जीवित है। संभवतः यह संसार का सबसे पुरातन बूढ़ा वृक्ष है। भारतवर्ष में पुनर्जागृत विपश्यना के गंभीर साधक आज भी जब इस पावन वृक्ष के नीचे बैठ कर विपश्यना साधना करते हैं, तो देखते हैं कि कितनी शीघ्र उनका मानस अनित्यबोध की धर्म-तरंगों से आप्लावित होने लगता है।

महाकवि अश्वघोष

ऐसा माना जाता है कि महाकवि अश्वघोष बुद्ध के लगभग पांच सौ वर्ष बाद हुआ। उसकी रचना से स्पष्ट होता है कि उस समय तक भी वंदना के संबंध में बुद्ध के मार्ग-निर्देशन को इसी प्रकार स्वीकारा जाता था। "सौन्दरानन्द" काव्य में कवि ने दर्शाया है कि भगवान का अनुज नंद उनके समीप आता है और श्रद्धाविभोर होकर उनके चरणों में सिर टेकता है। तब भगवान कहते हैं;

उत्तिष्ट धर्मेस्थित शिष्यजुष्टे, किं पादयोर्मे पतितोसि मूर्ध्ना।
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो, धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव॥

– सौन्दरानन्द १८२२.

– "हे धर्मस्थित प्रसन्नचित्त शिष्य! उठो! क्यों मेरे चरणों पर मस्तक टेक कर पड़े हो? यों प्रणाम करने में मेरा वैसा सम्मान नहीं है, जैसा कि धर्म-धारण करने में होता है।"

अतः स्पष्ट है अश्वघोष के समय तक भी धर्मपथ पर चलना ही सार्थक बुद्ध वंदना मानी जाती रही।

भिक्षुणी खेमा

भगवान एकांतप्रिय थे। समय-समय पर किसी शांत एकांत स्थान पर ध्यान करने चले जाते थे। यह देख कर ब्राह्मण जानुस्सोणि को भ्रम हुआ कि विमुक्त हुए भगवान बुद्ध को किस बात की कमी है कि उन्हें अब भी बार-बार एकांत में ध्यान करना पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने कहा;

"ब्राह्मण! दो बातों के लिए मैं एकांत सेवन करता हूं। इसी दृश्यमान शरीर के सुख-विहार के लिए याने इस शरीर को सुखी-स्वस्थ रखने के लिए और आगे आने वाली जनता पर अनुकंपा करते हुए उनके मार्गदर्शन के लिए, जिससे वे मेरा अनुसरण करें और सुफलभागी हों।"

इसी कारण अरहंत हो जाने पर भी अनेक भिक्षु, भिक्षुणियां समय-समय पर एकांत अरण्य में जाकर ध्यान करते थे। महाप्रज्ञा खेमा भी ऐसे ही एकांत ध्यान के लिए किसी अरण्य में गयी।

गृहस्थ जीवन की अतीव रूपवती खेमा अब ब्रह्मचारिणी का जीवन जीने लगी तो उसके चेहरे पर धर्मतेज का निखार आया। वह और अधिक रूपवती दिखने लगी। मार ने उसके भूतकाल के जीवन को ध्यान में रख कर उसे कामभोग की ओर पुनः आकर्षित करने का मिथ्या प्रयत्न किया। वह एक अत्यंत सुंदर युवक का रूप धारण कर, उसके समीप गया और उसे लुभाने की चेष्टा करते हुए बोला;

दहरा त्वं रूपवती, अहं पि दहरो युवा।

– "ऐ रूपवती! तू भी युवा है और मैं भी युवा हूं!"

जानता है, उसे कभी वाद्य-गायन का बहुत शौक था। अतः लुभावने शब्दों में कहता है;

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन, एहि खेमे रमामसे॥

– "आओ, खेमा! हम पांच प्रकार के वाद्य-संगीत का आनंद लें और कामभोग में रमण करें!"

दुष्ट कामदेव के इस कुत्सित आमंत्रण का उस परमविमुक्ता अरहंत साध्वी पर क्या असर पड़ता भला? उसने धर्ममय उत्तर दिया;

इमिना पूतिकायेन, आतुरेन पभङ्गुना।
अट्टियामि हरायामि, कामतण्हा समूहता॥

– "मैंने कामतृष्णा जड़ से उखाड़ दी है। इस प्रभंगुर व्याधिपुंज गंदे शरीर का कामभोग घृणित है, भयावह है, लज्जाजनक है।"

सत्तिसूलूपमा कामा, खन्धासं अधिकुट्टना।
यं त्वं कामरतिं ब्रूसि, अरती दानि सा मम॥

– "देख, यह काम-शक्तिशूल भाले-बर्छी के समान बींधने वाला है। यह कामस्कंध जल्लाद की तलवार की तरह काटने वाला है। जिसे तू कामरति का साधन कहता है, वह मेरे लिए घृणा पैदा करने वाला है।"

सब्बत्थ विहता नन्दी, तमोखन्धो पदालितो।
एवं जानाहि पापिम, निहतो त्वमसि अन्तक॥

– "मैंने काम-भोग के समस्त नंदिराग को नष्ट कर दिया है। अपने भीतर जागे हुए प्रज्ञा के प्रकाश से अविद्या के सारे अंधकार-समूह को विदीर्ण कर दिया है। प्राणियों को कामभोग में उलझाए रखने वाले पापी मार! प्राणियों को बारबार जन्म-मरण में उलझाए रखने वाले अंतक! तू समझ ले, मैंने तुझे ही पराजित कर दिया है। तेरा ही अंत कर दिया है।"

उस कामजयी जीवन्मुक्त बुद्धपुत्री को दुष्ट मार कहां लुभा सकता था भला?

वह खूब जानती थी कि इस कामदेव मार का वार कहां काम करता है। जो लोग अपने भीतर यथाभूत सत्य की विपश्यना करके सारे काम-संस्कारों का, भव-संस्कारों का उन्मूलन कर चुके, उन पर इसका वार काम नहीं करता। ऐसे लोग जो यथाभूत ज्ञानदर्शन से तो वंचित रह गये हैं और भिन्न-भिन्न नक्षत्रों को नमस्कार करते हैं, अग्नि-परिचर्या करते हैं और समझते हैं कि इनके कारण हम शुद्ध हो गये, विकार-विमुक्त हो गये, ऐसे लोगों पर मार का वार खूब चलता है। तभी कहती है;

नक्खत्तानि नमस्सन्ता, अग्गिं परिचरं वने।

यथाभुच्चमजानन्ता, बाला सुद्धिममञ्ञथ॥

– "ऐसे मूढ़जन यथाभूत सत्य की विपश्यना करना तो जानते नहीं, बल्कि नक्षत्रों को नमस्कार करते हैं अथवा वन में जाकर धूनि रमा कर अग्नि-परिचर्या करते हैं और इसी से अपने चित्त को कामराग के मैल से शुद्ध हुआ मानते हैं।

"ऐसे लोगों पर ही तुम्हारा वार चलता है। वर्षों की कर्मकांडी तपस्या के बाद भी तेरे वार से स्खलित हो जाते हैं, तेरे जाल में फँस जाते हैं। ऐसे मूढ़जनों से मेरा कोई मुकाबला नहीं। मैंने तो बुद्ध को नमस्कार किया है, किन्हीं नक्षत्रों को नहीं, किन्हीं अग्नि अर्चियों को नहीं।"

और बुद्ध को नमस्कार कैसे किया जाता है? यह एक बुद्धपुत्री खूब जानती है। पंचांग या साष्टांग प्रणाम कर लेना ही बुद्ध को किया गया सही नमस्कार नहीं है। बुद्ध के शासन याने उनकी शिक्षाओं को पूरा कर लेना ही सही बुद्ध-वंदना है। शुद्ध शील का पालन करते हुए कल्पनाविहीन सत्य के आलंबन से चित्त को एकाग्र करना और ऐसे एकाग्र चित्त से अपने भीतर नाम और रूप याने चित्त और शरीर-स्कंध के प्रपंच की यथाभूत विदर्शना करते हुए अंतर्मन की गहराइयों तक के सारे अनुशय-क्लेशों को दूर करके, सारे राग से विरक्त होकर जन्म-मरण के भवदुख से पूर्णतया विमुक्त हो जाना ही बुद्धशासन को पूरा कर लेना है और यही बुद्ध को किया गया सही नमस्कार है। इसी की ओर संकेत करती हुई बुद्धपुत्री खेमा कहती है:

अहं च खो नमस्सन्ती, सम्बुद्धं पुरिसुत्तमं।
पमुत्ता सब्बदुक्खेहि, सत्थुसासनकारिकाति॥

– मैंने भी नमस्कार किया है (परंतु अग्नि अथवा नक्षत्रों को नहीं। बल्कि उस परम पुरुषोत्तम भगवान सम्यक संबुद्ध को) और सही नमस्कार किया है, क्योंकि उन भगवान शास्ता के शासन को पूरा कर लिया है और सभी दुःखों से पूरी तरह विमुक्त हो गयी हूं।

साधको, साधिकाओ, आओ! हम भी इसी प्रकार उन महाकारुणिक शास्ता के शासन को पूरा करें। उन भगवान सम्यक संबुद्ध को इसी प्रकार सही नमस्कार करें और अपना कल्याण साध लें!

ब्राह्मण मेत्तजित

धीरे-धीरे लोगों में, विशेष कर साधकों में यह बात फैलने लगी कि भगवान किस प्रकार की वंदना को सही वंदना मानते हैं। कैसी वंदना उन्हें प्रिय है? कैसी

वंदना साधकों के लिए मंगलदायिनी है? विपश्यना साधना द्वारा दृढ़ पराक्रम करते हुए अपने मन के कषाय काटे, याने मैल दूर करे तो ही शास्ता का सही सम्मान होता है, उनकी सही वंदना होती है। यह बुद्ध मंतव्य स्पष्ट होने लगा। फिर भी अनेक लोग भगवान को साधारण औपचारिकता के रूप में वंदना करते ही रहे। परंतु ऐसे भी अनेक प्रसंग हैं, जो इस सच्चाई को प्रमाणित करते हैं कि कई साधक ऐसे थे, जो सही ढंग से ही वंदना करते थे।

मगध के एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न मेत्तजित नामक युवक। अपने पूर्व जीवन के कुशल कर्मों के कारण तरुण अवस्था में ही काम-भोग के जीवन से विरक्ति उत्पन्न हुई और वन में रहता हुआ तापस का जीवन जीने लगा। परंतु सही मार्ग न मिलने के कारण भटकता रहा। कालांतर में बुद्ध के बारे में प्रशंसा के शब्द सुने तो उनसे मिलने आया। लगता है उन दिनों मुक्ति के दो ही रास्ते लोकमान्य थे। एक तो गृहस्थ आश्रम के सभी कामभोगों में लिप्त रहते हुए किसी पुरोहित द्वारा यज्ञादि का काम करवा कर किसी देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म को प्रसन्न कर मुक्त होने की मान्यता। दूसरा निवृत्ति का मार्ग, यानी गृह त्याग कर शरीर को घोर कष्ट देकर मुक्त होने की मान्यता। प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्गों के विषय में उसने भगवान से अनेक प्रश्न किये और भगवान ने इन दोनों को छोड़ कर मध्यम मार्ग के औचित्य को समझाया। इससे संतुष्ट होकर, श्रद्धाबहुल होकर उसने शुद्ध धर्म की साधना शुरू की। अरण्य में जाकर कठिन परिश्रम करते हुए विपश्यना विधि से अपने समस्त संचित कर्मसंस्कारों का उत्खनन कर मुक्त अवस्था प्राप्त की। अपने अंतर्मन की आस्रव-विमुक्ति का साक्षात्कार कर कृतज्ञता के भावों से अभिभूत हुआ और भगवान के प्रति वंदना की गाथा गायी:

नमो हि तस्स भगवतो

– नमस्कार है उन भगवान को।

सक्यपुत्तस्स सिरीमतो

– उन शाक्यपुत्र को जो धर्मकाया के श्रीवैभव से संपन्न हैं।

तेनायं अग्गपत्तेन

– जिन्होंने स्वयं निर्वाण की अग्र अवस्था प्राप्त करके,

अग्गधम्मो सुदेसितो

– अग्रधर्म का अच्छा उपदेश दिया।

ऐसे अग्रधर्म का पालन करता हुआ मेत्तजित स्वयं अग्र अवस्था प्राप्त कर, जब बुद्ध की वंदना करता है तो सही वंदना करता है। अग्रधर्म की ही वंदना करता है।

आओ, हम भी इसी प्रकार अग्रधर्म को धारण कर, अग्र अवस्था प्राप्त सम्यक संबुद्ध की सही वंदना करें और अपना कल्याण साध लें!

शाक्य राजकुमार भगु

कोई भाग्यशाली व्यक्ति स्वयं भगवान तथागत के संपर्क में आता है। उनकी अमृतवाणी सुन कर समुत्साहित होता है। जीवन-मरण के भवचक्र से छुटकारा पाने के लिए कृतसंकल्प होता है। भगवान से साधना की विधि सीख कर किसी एकांत स्थान में जाकर तपता है। शील का पालन करते हुए समाधि को संपुष्ट करता है और भावनामयी प्रज्ञा जगा कर विपश्यना का अभ्यास करता है और यों अपने एक-एक पूर्व संचित कर्म-संस्कारों का प्रहाण करता हुआ चित्त को संस्कारविहीन कर लेता है। भवनेत्री काट लेता है। समस्त आस्रवों का क्षय करके अनास्रव हो जाता है। कृतकृत्य हो जाता है, भारमुक्त हो जाता है, पुर्नजन्म से छुटकारा पा लेता है तो स्वभावतः भगवान के प्रति असीम कृतज्ञता से विभोर हो उठता है।

ऐसा ही एक शाक्य राजकुमार। भगु। सद्धर्म के संपर्क में आया तो श्रद्धापूर्वक प्रव्रजित हो विपश्यना साधना में जुट गया। परंतु बार-बार आलस्य सिर पर सवार होने लगा। अपने मार्गदर्शक का आदेश याद आया – 'बहुत आलस्य आए तो कुछ देर चंक्रमण करो याने चलते हुए साधना करो।' तो ऊंचे बने हुए चंक्रमण स्थान पर चलते हुए साधना करने लगा। परंतु निद्रा इतनी प्रबल थी कि चंक्रमण भूमि से नीचे गिर पड़ा। इससे हतोत्साहित होने के बजाय घुटने झाड़ कर उठा और दुगुने पराक्रम से चंक्रमण करने लगा। निद्रा-आलस्य के इस आवरण को दूर करके साधना में लीन हो गया। यों चलते-चलते साधना करते हुए मन को सजग भी कर लिया और समाहित भी। यों करते हुए,

ततो मे मनसिकारो योनिसो उदपज्जथ।

– मेरे मन में योनिसोमनसिकार जागा यानी सम्यक संकल्प जागा।

आदिनवो पातुरहु,

– इस चित्त और शरीर प्रपंच के प्रति जो आसक्ति है वह कितनी खतरनाक है, यह बोध जागा। परिणामस्वरूप,

निब्बिदा समतिट्ठथ।

– इस प्रपंच के प्रति निर्वेद जागा और मन स्थिर हुआ।

ततो चित्तं विमुच्चि मे

– इससे मेरा चित्त विमुक्त हुआ। सभी संस्कारों से छुटकारा पा लिया।

पस्स धम्मसुधम्मतं

– देखो, धर्म की इस सुधर्मता को देखो, महिमा को देखो, महत्ता को देखो!

तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता

– मैंने तीनों विद्याएं प्राप्त कर लीं।

कतं बुद्धस्स सासनं

– और बुद्ध के शासन को यानी शिक्षा को पूरा कर लिया।

यों धर्म की महिमा गाता हुआ विमुक्त साधक बुद्ध की ही महिमा गाता है। धर्म की वंदना करता हुआ बुद्ध की ही वंदना करता है।

ब्राह्मण सुगंध

श्रावस्ती के धनी ब्राह्मण कुल में जन्मा सुगंध नामक युवक। विपश्यना साधना सीख कर घर से बेघर हो, एकांत में जाकर अभ्यास करने लगा। पूर्व जन्मों की संचित पारमिताओं के कारण सात दिनों की तपस्या से ही अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली और मुक्ति के हर्ष में, उसने यह मोद-भरे शब्द कहे;

अनुवस्सिको पब्बजितो

– वर्षा के बाद ही तो मैं प्रव्रजित हुआ।

पस्स धम्मसुधम्मतं

– देखो धर्म की सुधर्मता को! देखो धर्म की महिमा को!

तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता

– इतनी शीघ्र तीनों विद्याओं (दिव्य दृष्टि, पूर्व जन्मों की स्मृति और आस्रव-क्षययुक्त अवस्था) का साक्षात्कार कर,

कतं बुद्धस्स सासनं

– मैंने बुद्ध का शासन पूरा किया। उनकी शिक्षा के अनुसार जो कुछ करना था, सारा पूरा कर लिया। शील, समाधि, प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हो निर्वाण का साक्षात्कार कर लिया।

धन्य है धर्म की धर्मता! धन्य है धर्मपालक की महत्ता!

भिक्षु महापंथक

राजगिरि के धनश्रेष्ठि की पुत्री। युवावस्था में पांव फिसला तो घर से भाग निकली। भगोड़ी कन्या के एक-एक करके दो पुत्र हुए। दोनों ही सड़क के किनारे हुए। अतः दोनों का ही नाम पंथक रखा गया। बड़े का महापंथक और छोटे का चुल्ल पंथक। उम्र बढ़ने पर दोनों ने मां से अपने नाना-नानी के बारे में जानने की जिद्द की, तो उसने बता दिया। तब वे ननिहाल जाने के लिए मचलने लगे। वह बहुत दिनों तक टालती रही, पर जब उनका बहुत आग्रह देखा तो दोनों को साथ लेकर राजगिरि पहुँची। पिता ने बेटी को स्वीकार नहीं किया, पर नातियों पर प्यार उमड़ा और दोनों को घर पर रख लिया। वे वहीं पलने लगे।

सेठ धनश्रेष्ठि भगवान बुद्ध के विहार में धर्म-श्रवण करने जाया करता था। महापंथक भी साथ जाने लगा। उसके मन पर भगवान के उपदेशों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

महापंथक अपने हृदय के उद्गार इन शब्दों में प्रकट करता है;

"जब मैंने निर्भय शास्ता के पहले-पहल दर्शन किये तो मेरे मन में बहुत बड़ा धर्म-संवेग जागा, पुलक रोमांच जागा, पर साथ ही यह बात भी समझ में आयी कि कोई व्यक्ति दोनों हाथ, दोनों पांव और सिर धरती पर लगा कर इस महापुरुष को पंचांग प्रणाम करे, अथवा आठों अंग धरती पर लगा कर साष्टांग प्रणाम करे, तो भी अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। बुद्ध की सही वंदना तो उनकी बतायी हुई विधि का उपयोग कर चित्त निर्मल कर लेने से ही होगी। कल्याण तभी सधेगा।"

इसलिए सिर, दाढ़ी और मूंछ मुड़वा कर, घर से बेघर हो, वह प्रव्रजित हुआ और उनकी शिक्षा के मुताबिक शुद्ध शील का पालन करते हुए, शुद्ध आजीविका धारण करते हुए, इंद्रियों को वश में रखते हुए, सम्यक संबुद्ध को नमस्कार करते हुए, मानसिक दूषणों से अपराजित रह, विपश्यी साधक का जीवन जीने लगा।

वह जान गया था कि संबुद्ध को सही ढंग से नमस्कार कैसे किया जाना चाहिए। **आरद्ध विरिये पहितत्ते निच्चं दळ्ह परक्कमे** – आत्मभाव याने अहंभाव को सर्वथा त्याग कर नित्य दृढ़ पराक्रम करते हुए मुक्तिहित पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए। **एतं बुद्धान वन्दनं** – यही बुद्धों की सही वंदना है और इसी वंदना में वह लगनपूर्वक लग गया। उसने यह दृढ़ निश्चय किया कि तृष्णा के तीर को हृदय से पूर्णतया निकाले बिना वह तनिक भी विश्राम नहीं करेगा। सारी रात पराक्रम करते हुए अरहंत पद प्राप्त करके ही वह विश्राम करने बैठा। सचमुच महापंथक ने बुद्ध-वंदना को खूब समझा और खूब ही सार्थक वंदना भी की उसने।

संन्यासी नदीकाश्यप

तीन सौ शिष्यों के साथ नित्य कर्मकांडों में रत रहने वाला संन्यासी नदीकाश्यप। जब वह भगवान के संपर्क में आया तो उनकी अमृतमयी धर्मवाणी सुन कर मिथ्या कर्मकांडों से मुक्ति पाकर भगवान से विपश्यना सीखी। उसका पराक्रमपूर्वक अभ्यास कर जब अरहंत पद को प्राप्त हुआ तो अपनी मुक्ति का गान गाते हुए उसने यह हर्ष उद्घोषणा की;

"मैं अंधा था, अभिमानी था, अग्निपूजन के कर्मकांडों में पड़ा हुआ मिथ्या दृष्टियों में उलझा था। आसक्तियों में बँधा था। अब मैं सभी बंधनों से मुक्त हुआ, भवचक्र टूटा, मोह दूर हुआ और तृष्णा विदीर्ण हुई। जन्म-मरण का चक्र छूट गया। अब मेरा कोई पुनर्जन्म नहीं होने वाला। सही माने में जो पूजनीय अग्नि है, अब मैं उसी की उपासना करता हूं। पूजनीय अग्नि यह विपश्यना है, जो हमारे भीतर संगृहीत समस्त पाप कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर देती है। ऐसी पूजनीय अग्नि जो बुद्ध में जागी, वही मुझ में भी जागी। उसी की उपासना करता हूं। उसी के सान्निध्य में रहता हूं। पहले बाहरी अग्नि को नमस्कार करता था, पर अब इस भीतरी विपश्यना-अग्नि के रूप में बुद्ध को नमस्कार करता हूं।" सचमुच यही तो बुद्ध-वंदना है।

धन्य हुआ मुनि नदीकाश्यप और धन्य हुई नदीकाश्यप की सही बुद्ध-वंदना!

भिक्षु जयंत

कोशलनरेश के राजपुरोहित का पुत्र जयंत। उच्च जाति के गर्व-घमंड में, धन-संपदा के अहंकार अभिमान में, रूप-यौवन के मदमत्त नशे में वह इस प्रकार अंधा हुआ कि न अपने माता-पिता को नमन करे, न गुरुजनों को, न शीलवान श्रमण-ब्राह्मणों को। अहंकार का पुतला अभिमान के दर्प में प्रमत्त हो उठा। लेकिन अपने किसी पुण्य कर्म के कारण भगवान के संपर्क में आया, यानी शुद्ध धर्म के संपर्क में आया तो होश जागा। भगवान की अमृतवाणी सुन कर साधना में प्रवृत्त हुआ। जब अरहंत अवस्था को जा पहुँचा तब कहता है;

"अब मेरा अभिमान, अवमान क्षीण हुआ, पूर्ण विनष्ट हुआ। अहंभाव विगलित हुआ, जड़ से उखड़ गया।" और कहता है;

"मैंने सही रूप में भगवान के दर्शन किये यानी उनके गुणों के दर्शन किये कि वह विशिष्ट नायक हैं, विनायक हैं। प्राणियों में अग्र हैं, सारथियों में उत्तम सारथी हैं, याने बिगड़ैल घोड़ों जैसे गलत रास्ते पड़े उद्धत लोगों को सही रास्ते ले जाने में कुशल हैं। भिक्षु-संघ द्वारा पूजित प्रकाशमान सूर्य जैसे हैं।"

सिरसा अभिवादेसिं सब्बसत्तानमुत्तमं

– सब प्राणियों में श्रेष्ठ उन भगवान बुद्ध को मैंने सिर से नमस्कार किया।

यों सिर झुका कर नमस्कार करने के पूर्व अंतर्तप करते हुए, जो सही वंदना की, उसी से अहं-विमुक्त हुआ, उसी से अरहंत हुआ।

भिक्षु गोशाल

मगध के धनी संभ्रआंत कुल में उत्पन्न गोशाल। अपने पूर्व-परिचित महाधनी सोण आदि को भगवान से प्रव्रज्या लेने और अध्यात्म की ऊंची अवस्थाएं प्राप्त कर लेने के संवाद ने उसके मन में साधना के प्रति धर्म-संवेग जगाया। वह भी घर से बेघर हो, भिक्षु हो, भगवान से साधना-विधि सीख, समीप के पहाड़ी प्रदेश में ध्यान करने चला गया।

शरीर-स्कंध और चित्त के चारों स्कंध, ये पांचों किस प्रकार प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं, विपश्यना द्वारा इंद्रिय जगत के इस उदय-व्यय स्वभाव को स्वानुभूति पर उतारने लगा। यही उसकी बुद्ध और बुद्ध की शिक्षा के प्रति सही प्रदक्षिणा हुई याने वंदना हुई और उसी वंदना के आधार पर वह भवचक्र से मुक्त हुआ; अरहंत पद पर आसीन हुआ। वंदना, प्रदक्षिणा सफल हुई; धन्य हुई।

ब्राह्मण उज्जय

राजगृह के ब्राह्मण कुल में जन्मा उज्जय। अनेक शास्त्रों का अध्ययन और कर्मकांडों का संपादन किया, पर उनमें सार नहीं पाया। वेणुवन में भगवान के संपर्क में आया। उनकी अमृतवाणी सुन प्रव्रजित हो, उनसे विपश्यना साधना की विधि सीख कर पराक्रमपूर्वक प्रयास करते हुए परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

अरहंत उज्जय हर्ष-उदान की वाणी में कहता है;

"हे वीर! हे बुद्ध! आपको नमस्कार करता हूं। आप सभी प्रकार की उपाधियों से सर्वथा विमुक्त हो चुके हैं। आप के मंगल-उपदेशों का अनुसरण कर मैं भी अनास्रव याने आस्रवों से पूर्णतया विमुक्त होकर विहार करता हूं।"

यही तो उस वीर बुद्ध की सही वंदना है।

आओ, साधको, पूर्व काल के इन संतों-अरहंतों की भांति और इन्हीं जैसे हजारों अन्य साधक-साधिकाओं की भांति हम भी सही दर्शन और सही वंदना करना सीखें और सचमुच अपना कल्याण साध लें!

साधक की वंदना

जब कोई सिपाही अपने सेनापति को सलामी देता है याने वंदन करता है तो बड़ी मुस्तैदी से अपनी बंदूक को हाथ में पकड़ता है, जितनी हो सके उतनी छाती चौड़ी करता है, गर्दन सीधी करता है, कंधे चौरस करता है और सावधान की मुद्रा धारण करता है। एक सैनिक द्वारा अपने सेनापति की यही वंदना है, यही सम्मान है। सेनापति ने उसे सावधान रहना सिखाया है और वह वंदना के रूप में संपूर्ण सावधानी ही व्यक्त करता है। यों आज्ञा का पालन करता हुआ अपने बड़े का सम्मान करता है।

इसी प्रकार जिस सम्यक संबुद्ध ने हमें सजग रहते हुए अंतर्मुखी हो, मुक्तिदायिनी विपश्यना करनी सिखायी उनकी सही वंदना यही है कि हम पालथी मार कर बैठें, कमर, पीठ, गर्दन सीधी रखें और अंतर्मुखी होकर काय-चित्त-प्रपंच के प्रति अनासक्त रहते हुए विपश्यना करें:

एतं बुद्धान वन्दनं।

सामान्यतया किसी श्रद्धालु के मन में श्रद्धा उमड़ती है तो वह अपने श्रद्धाभाजन के चरणों में फूल चढ़ाता है। भक्त के मन में भक्ति उमड़ती है तो वह अपने भगवान को पुष्पांजलि अर्पित करता है और अपनी भक्ति-भावना

प्रकट करता है। लोक जीवन में ऐसा ही होता है। इसके अपने थोड़े से लाभ भी हैं। इससे चित्त प्रमुदित होता है। कुछ देर के लिए विकारविहीन होता है। अतः कल्याण फलगामी होता है, परंतु मुक्त नहीं होता। और सम्यक संबुद्ध तो भवचक्र से मुक्त होना सिखाते हैं। अतः सम्यक संबुद्ध के सच्चे अनुयायी द्वारा की गयी वंदना तो उपरोक्त प्रकार की ही होनी चाहिए। सामान्य श्रद्धालु असाधक की बात अलग है।

तथागत का सम्मान

भगवान की अस्सी वर्ष की अवस्था। वैशाख पूर्णिमा की रात। यह घोषणा हो चुकी है कि इस रात की समाप्ति पर भगवान अपना शरीर त्यागेंगे। महापरिनिर्वाण प्राप्त करेंगे। कुशीनगर के एक छोर पर एक विहार के बाहर खुले में, युग्म साल वृक्षों के नीचे बिछी हुई संघाटी पर भगवान लेटे हैं। आनंद उनकी सेवा में है। अंतिम दर्शनों के लिए भक्तजनों की भीड़ उमड़ रही है। लोग भगवान के सम्मान में पुष्प आदि चढ़ा रहे हैं। कहते हैं, उस समय उन युग्म साल वृक्षों में बिना मौसम के फूल खिल उठे और भगवान के शरीर पर गिरने-बिखरने लगे। भक्ति-विह्वल देवगण भगवान पर दिव्य-पुष्प और दिव्य-चंदन-चूर्ण बरसाने लगे। दिव्य-वाद्य और संगीत बजने लगे। तब भगवान ने आयुष्मान आनंद को संबोधित करते हुए कहा, “आनंद! यह जो पुष्प-वर्षा हो रही है, वाद्य और संगीत बज रहे हैं, इनसे तथागत का मान-सम्मान, आदर-सत्कार, पूजन-अर्चन नहीं होता। तथागत का मान-सम्मान, आदर-सत्कार, पूजन-अर्चन तभी होता है जब कोई भिक्षु या भिक्षुणी, गृहस्थ उपासक या उपासिका सद्धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होता है। धर्मानुसार आचरण करता है।”

एवं हि वो आनंद! सिक्खितब्बन्ति।

– “आनंद! ऐसा ही सीखना चाहिए।”

भक्ति-भावावेश के बाह्य प्रदर्शनमात्र से वह लाभ कहां मिल सकता है, जो कि तथागत जन-जन को प्राप्त कराना चाहते थे याने शुद्ध धर्म के मार्ग पर चल कर समस्त विकारों से विमुक्ति, समस्त दुःखों से विमुक्ति। ऐसा कर ले तो ही बुद्ध की शिक्षा को ठीक-ठीक समझा है, तो ही ठीक-ठीक पालन किया है और तो ही बुद्ध का सही सम्मान किया है।

आनंद पूछते हैं, “भगवान! आपके मृत शरीर का क्या किया जायगा?” भगवान समझाते हैं, “जो तथागत के अनेक भक्तजन हैं, वे चिता पर जलाए

हुए इस शरीर के अवशेषों पर स्तूप बनाएंगे और पुष्प, गंध, माला आदि से उसका पूजन-अर्चन करेंगे, अभिवादन करेंगे। यों कुछ देर के लिए चित्त को निर्मल करेंगे और परिणामतः दीर्घकाल तक अपना हित-सुख साधेंगे। सद्गति के अधिकारी होंगे।”

परंतु तथागत की गंभीर शिक्षा केवल सद्गति के लिए ही नहीं है। सारी गतियों के परे, नितांत विमुक्त अवस्था तक ले जाने वाली है। अतः जो तथागत की मूल शिक्षा को समझने वाले मुक्तिपथ के पथिक हैं, उनके लिए भगवान कहते हैं, “तुम इस प्रकार के शरीर-पूजन से अपने-आप को अलग रखो और परम सत्य की प्राप्ति में लग जाओ।”

सदत्थे अनुयुञ्जथ सदत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ।

– यानी सदर्थ में जुट जाओ। सदर्थ की प्राप्ति के लिए प्रमादरहित होकर तपो। आत्मभाव त्याग कर साधना में लगो।

परंतु सभी लोग तथागत के गंभीर मंतव्य को पूरी तरह नहीं समझ पाते। सभी लोग मुक्ति के मार्ग पर नहीं लग पाते। अतः अपनी-अपनी समझ के अनुसार तथागत की शिक्षा से जो जितना-जितना लाभ उठा सके उठाए। जो समझ गये वे तो परम लाभ ही उठाएंगे। वह बुद्ध वंदना को सामान्य वंदना से ऊपर उठा कर साधना के धरातल पर ही स्थापित करेंगे। साधना ही सही बुद्ध वंदना है। भगवान मुमुक्षुओं को जीवन भर यही सिखाते रहे।

———————

विपश्यना साहित्य

हिंदी

• निर्मल धारा धर्म की - (पांच दिवसीय प्रवचन)	रु. ५५/-
• प्रवचन सारांश (शिविर-प्रवचन)	रु. ४५/-
• जागे पावन प्रेरणा	रु. ८०/-
• जागे अंतर्बोध	रु. ५०/-
• धर्मः आदर्श जीवन का आधार	रु. ४०/-
• तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, भाग-२	रु. १३०/
• धारण करे तो धर्म	रु. ७०/-
• क्या बुद्ध दुक्खवादी थे?	रु. ३५/-
• मंगल जगे गृही जीवन में	रु. ४०/-
• धम्मवाणी संग्रह (पालि गाथाएं एवं हिंदी अनु.)	रु. ४०/-
• विपश्यना पगोडा स्मारिका	रु. १००/-
• सुत्तसार भाग १ (दीघ एवं मज्झिम निकाय)	रु. ९५/-
• सुत्तसार भाग २ (संयुत्तनिकाय)	रु. ५०/-
• सुत्तसार भाग ३ (अंगुत्तर एवं खुद्दकनिकाय)	रु. ४५/-
• धन्य बाबा!	रु. ३५/-
• कल्याणमित्र सत्यनारायण गोयन्का (व्यक्तित्व और कृतित्व)	रु. ५०/-
• पातंजल योगसूत्र	रु. ५०/-
• आहुनेय्य, पाहुनेय्य, अंजलिकरणीय - डॉ. ओम प्रकाश जी	रु. ३०/-
• राजधर्म [कुछ ऐतिहासिक प्रसंग]	रु. ३५/-
• आत्म-कथन भाग-१	रु. ३५/-
• लोक गुरु बुद्ध	रु. १०/-
• देश की बाह्य सुरक्षा	रु. ०५/-
• गणराज्य की सुरक्षा कैसे हो!	रु. ०६/-
• शाक्यों और कोलियों के गणतंत्र का विनाश क्यों हुआ?	रु. १०/-
• अंगुत्तर निकाय, भाग-१	रु. १००/-
• केंद्रीय कारागृह जयपुर, विपश्यना का प्रथम जेल शिविर	रु. ३०/-
• विपश्यना : लोकमत भाग-१	रु. ५५/-
• विपश्यना : लोकमत भाग-२	रु. ४५/-
• अग्रपाल राजवैद्य जीवक	रु. २०/-
• मंगल हुआ प्रभात (हिंदी दोहे)	रु. ५५/-
• पथ-प्रदर्शिका	रु. २/-
• विपश्यना क्यों?	रु. १/-
• सम्राट अशोक के अभिलेख	रु. ५०/-
• आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का संक्षिप्त जीवन-परिचय	रु. २०/-
• अहिंसा किसे कहें?	रु. १५/-
• लकुण्डक भद्दिय	रु. १०/-
• गौतम बुद्धः जीवन-परिचय और शिक्षा	रु. २५/-
• भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा	रु. १०/-
• बुद्ध-जीवन-चित्रावली	रु. ३३०/-
• भगवान बुद्ध के अग्रश्रावक महामोग्गल्लान	रु. ३५/-
• क्या बुद्ध नास्तिक थे?	रु. ८५/-
• तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, (६ भागों में) भाग-१ रु. ४५/-, भाग-२ रु. ५०/-, भाग-३ रु. ५५/-, भाग-४ रु. ४५/-, भाग-५ रु. ४५/-, भाग-६ रु. ५५/-	
• महामानव बुद्ध की महान विद्या विपश्यना का उद्गम और विकास (११६ चित्रों का संग्रह) सजिल्द	रु. ६२५/-
• भगवान बुद्ध के महाश्रावक महाकस्सप (धुतांगधारियों में 'अग्र')	रु. ४०/-
• महामानव बुद्ध की महान विद्या विपश्यना का उद्गम और विकास	रु. १४५/-
• भगवान बुद्ध के अग्रउपासक अनाथपिण्डिक	रु. ५०/-
• भगवान बुद्ध की अग्रश्राविका किसागोतमी	रु. ३०/-
• चित्त गृहपति एवं हत्थक आळवक	रु. ३०/-
• खुशियों की राह	रु. १५०/-
• विसाखा मिगारमाता	रु. ३५/-
• मगधराज सेनिय बिम्बिसार	रु. ४५/-
• बुद्धसहस्सनामावली (पालि एवं हिंदी)	रु. ३५/-
• आनन्द – भगवान बुद्ध के उपस्थाक	रु. १२०/-
• जीने की कला	रु. ७०/-
• परम तपस्वी श्री रामसिंह जी	रु. ५५/-
• भगवान बुद्ध की अग्रउपासिकाएं खुज्जुत्तरा एवं सामावती तथा उत्तरानन्दमाता	रु. २५/-
• विपश्यना पत्रिका संग्रह भाग - १	रु. ८०/-
• विपश्यना पत्रिका संग्रह भाग - २	रु. ७५/-
• आदर्श दंपति नकुलपिता एवं नकुलमाता	रु. २५/-

- तिक-पट्ठान (संक्षिप्त रूपरेखा) रु. ३५/-
- १२ हिंदी पुस्तिकाओं का सेट रु. १४/-
- धम्म-वंदना (पालि गाथाएं, हिंदी अनुवाद) रु. ४५/-
- धम्मपद (संशोधित हिंदी अनुवाद सहित) रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (समीक्षा एवं भाषानुवाद) रु. ५५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद) रु. ३५/-
- बुद्धगुणगाथावली (पालि) रु. ३०/-
- बुद्धसहस्सनामावली (पालि) रु. १५/-
- प्रारंभिक पालि रु. ८५/-
- प्रारंभिक पालि की कुंजी रु. ५०/-
- जागो लोगां जगत रा (राजस्थानी दूहा) रु. ४५/-
- परिभाषा धरम री (राजस्थानी) रु. १०/-
- ५ राजस्थानी पुस्तिकाओं का सेट रु. ५/-
- विश्व विपश्यना स्तूप का संदेश (हिंदी, मराठी, अंग्रेजी) रु. १०/-

मराठी

- जगण्याची कला रु. ७०/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. ८०/-
- प्रवचन सारांश रु. ४०/-
- धर्म: आदर्श जीवनाचा आधार रु. ४०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ६५/-
- निर्मळ धारा धर्माची रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद) रु. ३०/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (समीक्षा) रु. ४०/-
- मंगलमय गृहस्थ-जीवन रु. ३५/-
- भगवान बुद्धाची सांप्रदायिकता-विहीन शिकवणुक रु. १०/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- आनंदाच्या वाटेवर रु. १५०/-
- आत्म-कथन भाग-१ रु. ५०/-
- अग्रपाल राजवैद्य जीवक रु. २०/-
- महामानव बुद्धाची महान विद्या विपश्यना: उगम आणि विकास रु. १२५/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- लकुण्डक भद्दिय रु. १२/-
- प्रमुख विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयंका यांचा संक्षिप्त जीवन-परिचय रु. १८/-

गुजराती

- प्रवचन सारांश रु. ४५/-
- धर्म: आदर्श जीवननो आधार रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त रु. २०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ७५/-
- धारण करे तो धर्म रु. ७०/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. १००/-
- क्या बुद्ध दु:खवादी थे? रु. ३०/-
- विपश्यना शा माटे? (पुस्तिका) रु. ०२/-
- मंगल जगे गृही जीवन में रु. ३५/-
- निर्मल धारा धर्म की रु. ६५/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा रु. १०/-

अन्य भाषाओं में

- द आर्ट ऑफ लिविंग (तमिळ) रु. ६०/-
- डिस्कोर्स समरीज (तमिळ) रु. ३०/-
- ग्रेसियस फ्लो ऑफ धम्म (तमिळ) रु. २५/-
- मंगल जगे गृही जीवन में (तेलगु) रु. ३०/-
- प्रवचन सारांश (बंगाली) रु. ३५/-
- धर्म: आदर्श जीवन का आधार (बंगाली) रु. ३०/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (बंगाली) रु. ९०/-
- प्रवचन सारांश (मलयालम) रु. ४५/-
- निर्मल धारा धर्म की (मलयालम) रु. ४५/-
- जीने का हुनर (उर्दू) रु. ७५/-
- धर्म: आदर्श जीवन का आधार (पंजाबी) रु. ५०/-

पालि तिपिटक सेट:

अङ्गुत्तरनिकाय (अजिल्द) (१२ ग्रंथ) रु. १५००/-
खुद्दकनिकाय – सेट १ (९ ग्रंथ) रु. ५४००/-
दीघनिकाय अभिनवटीका (रोमन) (भाग १ और २) रु. १०००/-

English Publications

- Sayagyi U Ba Khin Journal Rs. 225/-
- Essence of Tipitaka by U Ko Lay Rs. 130/-
- The Art of Living by Bill Hart Rs. 85/-
- The Discourse Summaries Rs. 60/-
- Healing the Healer by Dr. Paul Fleischman Rs. 35/-
- Come People of the World Rs. 40/-
- Gotama the Buddha: His Life and His Teaching Rs. 45/-
- The Gracious Flow of Dharma Rs. 40/-
- Discourses on Satipaṭṭhāna Sutta Rs. 80/-
- The Wheel of Dhamma Rotates Rs. 850/-
- Vipassana : Its Relevance to the Present World Rs. 110/-
- Dharma: Its True Nature Rs. 70/-
- Vipassana : Addictions & Health (Seminar 1989) Rs. 70/-
- The Importance of Vedanā and Sampajañña Rs. 135/-
- Pagoda Seminar, Oct. 1997 Rs. 80/
- Pagoda Souvenir, Oct. 1997 Rs. 50/-
- A Re-appraisal of Patanjali's Yoga- Sutra by S. N. Tandon Rs. 85/-
- The Manuals Of Dhamma by Ven. Ledi Sayadaw Rs. 205/-
- Was the Buddha a Pessimist? Rs. 65/-
- Psychological Effects of Vipassana on Tihar Jail Inmates Rs. 80/-
- Effect of Vipassana Meditation on Quality of Life (Tihar Jail) Rs. 60/-
- For the Benefit of Many Rs. 160/-
- Manual of Vipassana Meditation Rs. 80/-
- Realising Change Rs. 140/-
- The Clock of Vipassana Has Struck Rs. 130/-
- Meditation Now : Inner Peace through Inner Wisdom Rs. 85/-
- S. N. Goenka at the United Nations Rs. 20/-
- Defence Against External Invasion Rs. 10/-
- How to Defend the Republic? Rs. 6/-
- Why Was the Sakyan Republic Destroyed? Rs. 12/-
- Mahāsatipaṭṭhāna Sutta Rs. 65/-
- Pali Primer Rs. 95/-
- Key to Pali Primer Rs. 55/-
- Guidelines for the Practice of Vipassana Rs. 2/-
- Vipassana In Government Rs. 1/-
- The Caravan of Dhamma Rs. 90/-
- Peace Within Oneself Rs. 10/-
- The Global Pagoda Souvenir 29 Oct.2006 (English & Hindi) Rs. 60/-
- The Gem Set In Gold Rs. 75/-
- The Buddha's Non-Sectarian Teaching Rs. 15/-
- Acharya S. N. Goenka An Introduction Rs. 25/-
- Value Inculcation through Self-Observation Rs. 35/-
- Glimpses of the Buddha's Life Rs. 330/-
- Pilgrimage to the Sacred Land of Dhamma (Hard Bound) Rs. 750/-
- An Ancient Path Rs. 100/-
- Vipassana Meditation and the Scientific World View Rs. 15/-
- Path of Joy Rs. 200/-
- The Great Buddha's Noble Teachings The Origin & Spread of Vipassana (Small) Rs. 160/-
- Vipassana Meditation and Its Relevance to the World (Coffee Table Book) Rs. 800/-
- The Great Buddha's Noble Teachings The Origin & Spread of Vipassana (HB) Rs. 650/-
- Buddhaguṇagāthāvalī (in three scripts) Rs. 30/-
- Buddhasahassanāmāvalī (in seven scripts) Rs. 15/-
- English Pamphlets, Set of 9 Rs. 11/-
- Set of 10 Post Card Rs. 35/-
- Gotama the Buddha: His Life and His Teaching (French) Rs. 50/-
- Meditation Now: Inner Peace through Inner Wisdom (French) Rs. 80/-
- For the Benefit of Many (French) Rs. 195/-
- For the Benefit of Many (Spanish) Rs. 125/-
- The Art of Living (Spanish) Rs. 130/-
- Path of Joy (German, Italian, Spanish, French) Rs. 300/-

संपर्कः विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, जि. नाशिक, महाराष्ट्र. फोन: **०२५५३-२४४०७६,** २४४०८६, २४३७१२, २४३२३८. फैक्स: **०२५५३-२४४१७६**. (दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवादित विपश्यना साहित्य, स्थानीय केंद्रों पर उपलब्ध है) Email: vri_admin@dhamma.net.in; **विपश्यना विशोधन विन्यास के प्रकाशन अब ऑनलाइन भी खरीदे जा सकते हैं। कृपया देखें www.vridhamma.org**

विपश्यना साधना केंद्र

विश्वभर में विपश्यना के निम्नलिखित केंद्र हैं। इन केंद्रों पर प्रायः हर माह दस दिवसीय आवासीय शिविर आयोजित होते हैं। इच्छुक व्यक्ति किसी भी केंद्र से भावी शिविर-कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त करके, अपनी सुविधानुसार सम्मिलित हो सकते हैं:–

प्रमुख केंद्र = धम्मगिरि, धम्मतपोवन : विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी-४२२४०३, नाशिक. फोन: [९१] (**०२५५३**) २४४०७६, २४४०८६, २४३७१२, २४३२३८; फैक्स: ०२५५३-२४४१७६. Website: www.vri.dhamma.org, Email: <info@giri.dhamma.org> (केवल कार्यालय के समय अर्थात सुबह १० बजे से सायं ५ बजे तक).

धम्मनासिकाः संपर्कः १) **नाशिक विपश्यना केंद्र,** म.न.पा. जलशुद्धिकरण केंद्र के सामने, शिवाजीनगर, सातपुर, (पोस्ट-YCMOU), नाशिक-४२२२२२. संपर्क: फोन: (०२५३) ६५१६-२४२, ३२०३-६७७, मोबाइल: ९८२२५-१३२४४, Email: info@nasika.dhamma.org

धम्मसरिताः विपश्यना केंद्र, जीवन संध्या मंगल संस्थान, मातोश्री वृद्धाश्रम, सौरगांव, पोस्ट पडघा, ता. भिवंडी, जि. ठाणे-४२११०१ (खडावली मध्य रेल्वे स्टेशन के पास). फोन: (**०२५२२**) ६९५३०१, **संपर्कः** +९१ ७७९८३-२४६५९, ७७९८३-२५०८६.

धम्ममनमोदः मनमाड विपश्यना केंद्र, अनकाई किला स्टेशन के पास, पो. अनकाई, ता. येवला, जि. नाशिक-४२२ ४०३ **संपर्कः** (०२५९१) २२५१४१-२३१४१४.

धम्मवाहिनीः मुबई परिसर विपश्यना केंद्र, गांव रूंदे, टिटवाला (पूर्व) कल्याण, जि. ठाणे. **संपर्कः संपर्कः** मोबाईल: ९७७३०-६९९७८. केवल कार्यालय के दिन-- १२ से सायं ६ तक.

धम्मसाकेतः विपश्यना केंद्र, नालंदा स्कूल के पास, कानसई रोड, सुभाष टेकड़ी, उल्हासनगर-४२१००४, जि. ठाणे, महाराष्ट्र

धम्मविपुलः विपश्यना साधना केंद्र, सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट, प्लॉट नं. ९१ए; सेक्टर २६, पारासिक हिल, सीबीडी बेलापुर, नवी मुंबई ४०० ६१४. फोन: (०२२) २७५२-२२७७. Email: dhammavipula@gmail.com

धम्मपत्तनः एस्सेल वर्ल्ड के पास, गोराई खाड़ी, बोरीवली (पश्चिम) मुंबई – ४०० ०९१ व्यवस्थापक, फोन: (९१) (०२२) २८४५-२२३८, ३३७४-७५०१, मोबा. ९७७३०-६९९७५, (सुबह ११ से सायं ५ बजे तक); टेलि-फैक्स: (०२२) ३३७४-७५३१, Email: info@pattana.dhamma.org; Website: www.pattana.dhamma.org

धम्मसरोवरः खान्देश विपश्यना केंद्र, गेट नं. १६६, डेडरगांव जलशुद्धिकरण केंद्र के पास, मु.पो. तिखी-४२४ ००२, जिला- धुळे, (०२५६२) २०३४८२, ६९९५७३. मोबा. ९२२५४-६१०२१. **संपर्कः** फोन: २२२८६१, मोबा. ९९२२६-०७७१८, ९४०३४-२४३३३, ९४२२७-७७९०२. Email: info@sarovara.dhamma.org

धम्मानन्दः पुणे विपश्यना केंद्र, मरकल गांव के पास, आलंदी से ८ कि.मी. मोबा. कार्यालय ९२७१३-३५६६८. व्यवस्थापक मोबा. ९४२०४-८२८०५. **संपर्कः** पुणे विपश्यना समिति, नेहरू स्टेडियम के सामने, आनंद मंगल कार्यालय के पास, दादावाडी, पुणे-४११००२. फोन: (**०२०**) २४४६८९०३, २४४३६२५०; टेलि/फैक्स: २४४६४२४३. Email: info@ananda.dhamma.org Website:www.pune.dhamma.org;

धम्मपुण्णः संपर्कः पुणे विपश्यना समिति, दादावाडी, नेहरू स्टेडियम के सामने, आनंद मंगल कार्यालय के पास, पुणे-४११००२. फोन: (०२०) २४४३६२५०. २४४६८९०३. फैक्स: २४४६४२४३; Email: info@punna.dhamma.org

धम्मालयः दक्खिन विपश्यना अनुसंधान केंद्र, रामलिंग रोड, आलते पार्क, आलते, ता. हातकणंगले, जि. कोल्हापुर, पिन: ४१६१२३. फोन: **०२३०**-२४८७१६७, २४८७३८३, Email: info@alaya.dhamma.org. संपर्क: कार्यालय: २१०१/१९ इ, जयहिंद अपार्टमेंट, लक्ष्मीनगर, कोल्हापुर-४१६००५, फोन:(२३१) २५३०९९९, मोबा. ९७६७४-१३२३२.

धम्मअनाकुलः विपश्यना साधना केंद्र, खापरखेड़ फाटा, तेल्हारा-४४४१०८ जि. अकोला. **संपर्कः** १) विपश्यना चैरिटेबल ट्रस्ट, शेगांव, अपना बाजार, मेन रोड, शेगांव, जि. बुलडाना. फोन: ९५७९८-६७८९०, ९८८१२-०४१२५. २) श्री महेंद्र सिंह आनंद, मोबाइल: ९४२२१-८१९७०. Email: info@anakula.dhamma.org

धम्मअजयः विपश्यना साधना केंद्र, ग्राम - अजयपूर, पो. चिचपल्ली, मुल रोड, चंद्रपुर, Email: dhammaajaya@gmail.com **संपर्कः** १) श्री घरडे, सुगत नगर, नगीनाबाग वार्ड नं. २ जि. चंद्रपुर पिन-४४२४०१. मोबाइल: ८००७१५१०५०, ९४२१७-२१००६, २) श्री प्रीतिकमल पाटील, मोबाइल: ९४२१७-२१००६, ९८२२५-७०४३५, ९३७०३१२६७३,

धम्ममल्लः संपर्कः श्री. शेलके, सिद्धार्थ सोसायटी, यवतमाळ, ४४५००१, फोन: ९४२२८-६५६६१.

धम्मभूसनः विपश्यना साधना समिति, शांतिनगर, ओमकार कॉलोनी, कोटेचा हायस्कूल के पास, जि. जलगांव, भुसावल ४२५२०१, Email: info@bhusana.dhamma.org, **संपर्कः** मोबा. ९८२२९-१४०५६.

धम्मअजन्ताः अजंता अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना समिति, एम. जी. एम. मेडिकल कालेज कैम्पस, एन-६, सिडको, औरंगाबाद-४३१००३. फोन: (०२४०) २३५००९२, २४८०१९४. Email: vipassana@emgm.org **संपर्कः** १) श्री रायबोले, फोन: (०२४०) २३४१८३६. २) श्री के. एन. पटेल, फोन: (निवास) (०२४०) २३५४२२३, (कार्या.) २३३३१३६. मोबाईल: ९४२२२-११३४४.

धम्मनागः नागपुर विपश्यना केंद्र – माहुरझरी गांव, नागपुर-कलमेश्वर रोड के पास, नागपुर; **संपर्कः** फोन: **०७१२**-२४५८६८६, २४२०२६१, मोबा. ९४२३४-०५६००; फैक्स: २५३९७१६. Email: info@naga.dhamma.org

धम्मसुगतिः संपर्कः १) श्री नारनवरे, एकायनो मग्गो धम्म प्रशिक्षण संस्था, सुगतनगर, नागपुर-१४. फोन: (०७१२) २६३०११५, फैक्स: २६५०८६७. मोबा. ९४२२१-२९२२९. २) सुरेंद्र राऊत: २६३२९१८. मोबा. ९२२६९-९६०८७.

धम्मवसुधाः विपश्यना केंद्र, हिवरा पोस्ट झडशी, ता. सेलु, जि. वर्धा **संपर्कः** १) श्री एवं सौ बांते, मोबा. ९३२६७३२५५०, ९३२६७३२५४७. २) श्री काटवे, मोबा. ९७३००६९७२६, Email: dhammavasudha@yahoo.com.in

धम्म छत्तपतिः फलटन, सातारा, महाराष्ट्र

धम्म आवासः लातुर विपश्यना समीती, आर. टी. ओ आफीस के पास, वसंत विहार कालोनी, बाभळगाव रोड, लातूर-४१३५३१ **संपर्कः** १) श्री द्वारकादास भुतडा, मोबा. ९६७३२५९९००, ०२३८२-२५९२८४, २) श्री आकाश कामदार, मोबा. ९९७०२-७७७०१.

धम्म निरंजनः विपश्यना साधना केंद्र, नेरली कुशता धाम नेरली. (नांदेड से ५ कि. मी. की दुरी पर) **संपर्कः** १) श्री एस. एम. जोंधले, मोबाइलः ९४२२१८९३१८. २) डॉ. कुलकर्णी, फोनः (०२४६२) २५२६५९. मोबाइलः ९४२२१७३२०२.

धम्मथलीः विपश्यना केंद्र, पो.बॉ. २०८, जयपुर-३०२००१, राजस्थान, फोनः **[९१] ०१४१**-२६८०२२०, मोबा. ०-९६१०४-०१४०१, ०९६०२८-४८८९६. फैक्सः २५७६२८३. Email: info@thali.dhamma.org

धम्ममरुधराः विपश्यना साधना केंद्र, लहरिया रिसोर्ट के पीछे, पाल-चौपासनी लींक रोड, चोखा, जोधपुर-३४२००९. मोबा. +९१-९३१४७२७२१५, +९१-९८२८१३११२०, फैक्सः +९१-२९१-२७४६४३५. Email: info@marudhara.dhamma.org **संपर्कः** श्री नेमीचंद भंडारी, ४१, अशोक नगर, पाल लींक रोड, जोधपुर-३४२००३. मोबा.: +९१-९८२९०२७६२१,

धम्मपुब्बजः चूरू (राजस्थान) **पुब्बज भुमी विपश्यना ट्रस्ट,** बलेरी रोड, (चूरू से ६ कि.मी.) चूरू (राजस्थान): **संपर्कः** १) श्री श्रवण कुमार फुलवारी, सी-८६, सामुदायीक भवन के पास अग्रसेन नगर, चूरू, मोबा. ०९४१४६-७६०६१. Email: gk.churu@gmail.com २) श्री सुरेश खन्ना, ६५ इंदिरा कालोनी, वनी पार्क, जयपुर, मोबा. ९४१३१-५७-५६. Email: sureshkhanna56@yahoo.com

धम्मअजरामरः विपश्यना केंद्र, वीर तेजाजी नगर, दौराई, अजमेर-३०५००३; फोनः (०१४५) २४४३६०४. **संपर्कः** श्री कैलाश बैरवाल, मोबा. ९४१३२२८३४०, ९४६१५६१३४४, ९००११९६५५६. Email: kailashbairwal@yahoo.com

धम्मपुष्करः विपश्यना केन्द्र, ग्राम रेवत (केडेल), पुष्कर पर्बतसर रोड, पुष्कर, जि अजमेर. मोबा. +९१-९४१३३-०७५७०. फोनः +९१-१४५-२७८०५७०. **संपर्कः** १) श्री रवि तोषणीवाल, मोबा. ०९८२९०-७१७७८, Email: info@toshcon.com २) श्री अनिल धारीवाल, मोबा. ०९८२९०-२८२७५. फैक्सः ०१४५-२७८७१३१.

धम्मसोतः विपश्यना साधना संस्थान, राहका गांव, (निम्मोद पोलीस पोस्ट के पास) बल्लभगढ़-सोहना रोड, (सोहना से १२ कि.मी.), जिला- गुडगांव, सोहना, हरियाणा. मोबा. ९८१२६५५५९९, ९८१२६४१४००. (बल्लभगढ़ और सोहना से बस उपलब्ध है।) संपर्कः विपश्यना साधना संस्थान, रुम न. १०१५, १० वां तल, हेमकुंठ/मोदी टावर्स, ९८ नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-११००१९. फोनः **(०११)** २६४८-५०७१, २६४८-५०७२, २६४५-२७७२. फैक्सः २६४७०६५८. Email: info@sota.dhamma.org

धम्मपट्ठान : विपश्यना साधना केंद्र, कम्मासपुर, जि. सोनीपत, हरियाणा, पिन-१३१००१. मोबा. ०९९९१८७४५२४, **संपर्कः** ऊपर धम्मसोत के संपर्क पर.

धम्मकारुणिकः विपश्यना साधना संस्थान, गव्हरमेंट स्कूल के पास, गाँव नेवल, डाक सैनिक स्कूल कुंजपुरा, करनाल-१३२००१; **संपर्कः** श्री वर्मा, ५, शक्ति कालोनी, एस.बी.आई. के पास, करनाल-१३२००१. टेली-फैक्सः ०१८४-२२५७५४३, २२५७५४४; मोबा. ९९९२०-००६०१. Email: info@karunika.dhamma.org;

धम्म हितकारीः रोहतक, हरियाणा

धम्मसिखरः हिमाचल विपश्यना केंद्र, धर्मकोट, मैकलोडगंज, धर्मशाला, जिला- कांगरा, पिन-१७६२१९ (हि. प्र.) फोनः **०१८९२-** २२१३०९, २२१३६८. मोबा. (सायं ४ से ५) ०९८५७०-१४०५१. Email: info@sikhara.dhamma.org;

धम्मसलिलः देहरादून विपश्यना केंद्र, जनतनवाला गांव, देहरादून कॅन्ट तथा संतला देवी मंदिर के पास, देहरादून-२४८००१. फोनः **०१३५**-२१०४५५५, २७१५१८९. **संपर्कः** १) श्री भंडारी, १६ टैगोर विला, चक्राता रोड, देहरादून-२४८००१. फोनः (०१३५) २७१५१८९, फैक्सः २७१५५८०. २) श्री गुप्ता, फोनः २६५३३६६. Email: info@salila.dhamma.org;

धम्मसुवत्थीः जेतवन विपश्यना साधना केंद्रः कटरा बाईपास रोड, बुद्धा इंटर कालेज के सामने, श्रावस्ती, पिन-२७१८४५; फोनः **(०५२५२)** २६५४३९, ०९३३५८३३३७५ Email: info@suvatthi.dhamma.org **संपर्कः** श्री मुरली मनोहर, मातन हेलीया. मोबाईलः ०९४१५०-३६८९६, ०९४१५७-५१०५३.

धम्मलक्खणः लखनऊ विपश्यना केंद्र, अस्ती रोड, बक्शी का तालाब, लखनऊ-२२७२०२. फोनः (०५२२) २९६८५२५. मोबा. ०९७९४५४५३३४. Email: info@lakkhana.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री जैन, ए-१०१, हेम्प्टन कोर्ट्स अपार्टमेंट्स, पिकैडिली होटल के पीछे, आलमबाग, लखनऊ-२२६ ००५, (उ.प्र.) फोनः नि. **(०५२२)**-२४२-४४०८, मोबा. ०९३३५९-०६३४१, ०९४१५०-३६८९६, ०९४१५७-५१०५३.

धम्मधजः पंजाब विपश्यना केंद्र, आनंदगढ़, पो. मेहलांवली-१४६११०, जिला- होशियारपुर. फोनः **०१८८२-**२७२३३३, मोबाइलः ९४६५१-४३४८८. Email: info@dhaja.dhamma.org

धम्म तिहारः नई दिल्ली जेल न. ४ तिहार, केन्द्रीय कारागृह, नई दिल्ली

धम्म रक्खकः नई दिल्ली नजफगढ़, पुलिस ट्रेनिंग कालेज

धम्मचक्कः विपश्यना साधना केंद्र, खरगीपुर गांव, पो. पियरी, चौबेपुर, (सारनाथ), वाराणसी. मोबाः ०९३०७०९३४८५, Email: info@cakka.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री गुप्ता, फोनः ०५४२-३२४६०८९. मोबा. ९३३६९-१४८४३, (प्रातः १० से सायं ६.) २) श्री प्रेम श्रीवास्तव, मोबाईलः ९२३५४-४१९८३.

धम्मकल्याणः कानपुर (उ. प्र.) अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, ढोड़ी घाट, हनुमान मंदिर के पास, गाँव एमा, पो. रूमा, कानपुर नगर- २०९४०२, (सेन्ट्रल रेलवे स्टेशन से २३ कि० मी० एवं रमादेवी चौराहा से १५ कि० मी० दूरी पर स्थित) फोनः ०७३८८-५४३७९३, ०७३८८-५४३७९५, मोबा. ०८९९५४८०१४९. Email: dhamma.kalyana@gmail.com, **संपर्कः** १) श्री अशोक साहू, मोबा. ०९८३९१-३८०८४, २) डा. ओ. पी गुप्ता, मोबा. ०९४५०१-३२४३६.

धम्मसिन्धुः कच्छ विपश्यना केंद्र, ग्राम- बाड़ा, मांडवी, जिला- कच्छ-३७०४७५. फोनः (कार्या.) (०२८३४) २७३३०३,

फैक्सः २२४४८८, २८८९११; **संपर्कः** फोनः **(०२८३४)** २२३०७६, २२३४०६, Email: info@sindhu.dhamma.org

धम्मकोट : सौराष्ट्र विपश्यना केंद्र, कोठारिया रोड, लोथडा गांव, राजकोट, गुजरात. फोनः ०२८१ –२७८२०४०, मोबाईलः ९३२७९-२३५४० (राजकोट से १५ कि.मी.) **संपर्कः** फोनः ०२८१- २२२०८६१६, मोबाईलः ९४२७२-२१५९१, फैक्सः २२२१३८४. Email: info@kota.dhamma.org

धम्मदिवाकरः उत्तर गुजरात विपश्यना केंद्र, मीठ्ठा गाव, ता. और जिला- मेहसाणा, गुजरात; फोनः **(०२७६२)** २७२८००. Email: info@divakara.dhamma.org **संपर्कः** फोनः **(०२७६२)** २५४६३४, २५३३१५. मोबा. ०९४२९२३३०००,

धम्मसुरिन्दः सुरेंद्रनगर, गुजरात **संपर्कः**१) महासतीजी, फोनः (०२७५२) २४२०३०. २) डॉ. बविशी, फोनः २३२५६४.

धम्मभवनः संपर्कः १) 'धम्मभवन', ५ कालिंदी पार्क, अकोटा अतितिगृह के पीछे, अकोटा, बड़ोदा-३९००२०; फोनः (०२६५) २३४११८१. २) विठ्ठलभाई पटेल, फोनः (०२६९२) मोबा. ९८२५०-२८०५७. Email: vvsou@hotmail.com

धम्म अम्बिका : विपश्यना ध्यान केंद्र, (१५ कि० मी० नवसारी तथा बिलीमोरा रेलवे स्टेशन) १) जी एल/१२ निलांजन काम्प्लेक्स, राधा किशन मंदिर के सामने, नूतन सोसायटी के पास, महर्षि अरविंद मार्ग दुधिया तलाव, नवसारी, २) श्री रत्नशीभाई के. पटेल, मोबा. ०९८२५०४४५३६, ३) श्री मोहनभाई पटेल, मोबा. ०९५३७२६६९०९.

धम्मपीठः गुर्जर विपश्यना केंद्र, ग्राम- रनोडा, ता. धोलका, जिला- अहमदाबाद- ३८७८१०, मोबा. ८९८००-०१११०, ८९८००-०१११२, ९४२६४-१९३९७. फोनः (०२७१४) २९४६९०. **संपर्कः** श्रीमती शशी तोडी, मोबा. ९८२४०-६५६६८. Email: info@pitha.dhamma.org

धम्मखेत्तः विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, (१२.६ किमी.) माइल स्टोन नागार्जुन सागर रोड, कुसुम नगर, वनस्थलीपुरम हैदराबाद-५०००७०, (आंध्र प्रदेश) फोनः **(०४०)** २४२४०२९०, ३२४६०७६२, ०९४९१५९४२४७, फैक्सः २४२४१७४६. Email: info@khetta.dhamma.org

धम्मसेतुः विपश्यना साधना केंद्र, ५३३, पझान- थंडलम रोड, थीरुनीरमलाई रोड, द्वारा, थीरुमुदीवक्कम, चेन्नई-६०००४४. फोनः ०४४-२४७८०९५३, २४७८०९५२, मोबाइलः ९४४४०-२१६२२, **संपर्कः** फोनः ०४४-४३४०-७०००, ४३४०-७००१, फैक्सः ९१-४४-४२०१-११७७. मोबा. ०९८४०७-५५५५५. Email: setu.dhamma@gmail.com;

धम्मपफुल्लः बैंगलोर विपश्यना केंद्र, अलूर-५६२१२३. (गाँव अलूर, अलूर पंचायत कार्यालय के पास) तुमकूर हाईवे के सामने दासनपुरा बैंगलोर उत्तर तालुका, (कर्नाटक). फोनः **(०८०)** २३७१-२३७७, २३७१७१०६, ९१-९७३९५९१५८० (सुबह १० से सायं ६ तक), ९२४२३-५७४२४ (सुबह ९ से दोपहर २ तथा सायं ४ से ६ तक), एवं ९३४३५-४५३८८ (सुबह ११ से दोपहर ३ तक) Email: info@paphulla.dhamma.org [बैंगलोर रेल्वे स्टेशन से २३ की.मी. दूर; मजेस्टिक बस स्टैंड के प्लेटफार्म २० से नं. २५६, २५८, २५८सी, २५८ के बस से तुमकूर हाईवे पर हिमालया ड्रग भवन तक, तथा वहां से अलूर गांव के लिए ऑटोरिक्शा मिलते हैं।]

धम्मनागाज्जुन : विपश्यना साधना केंद्र, हिल कॉलोनी, नागार्जुन सागर, जि. नालगोंडा, आंध्र प्रदेश, (हैदराबाद से १४०.४ किमी, बुद्धपार्क के पास, हिल कॉलोनी से हैदराबाद की तरफ ३ किमी, दूरी पर) पिन-५०८२०२. फोनः (८६८०) २७७९९९ मोबाः ०९९६३७७५६४५, ९४४०१- ३९३२९. Email: info@nagajjuna.dhamma.org

धम्मनिज्झान : विपश्यना साधना केंद्र, इंदूर, पो. पोचाराम-५०३१८६, येदपल्ली मंडल, जि. निजामाबाद, फोनः **(०८४६७)** ३१६६६३, ९९०८५९६३३६. Email: info@nijjhana.dhamma.org

धम्मविजय : विपश्यना साधना केंद्र, विजयराय, पोस्ट- पेदावेगी मंडलम्, पिन-५३४४७५, जि. पश्चिम गोदावरी, (आंध्र प्रदेश). [विजयराय गांव एलूरु से १५ किमी, एलूरु चिंतलपुडी रोड पर. विजयराय बस स्टॅन्ड से ३ की. मी. दूरी पर धम्मविजया सेंटर हैं, बस स्टॅन्ड से ॲटो/टॅक्सी उपलब्ध हैं।] फोनः **(०८८१२)** २२५५२२; मोबा. ९४४१४-४९०४४

धम्मारामः विपश्यना अंतर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, कुमुदावल्ली गांव, भीमावरम-भानुकू रोड, (भीमावराम के पास), मंडल -पाल कोडेरु, जि. पश्चिम गोदावरी, पिन-५३४२१०. फोनः ०८८१६- २३६५६६. Email: info@rama.dhamma.org

धम्म कोण्डञ्ञ : विपश्यना साधना केंद्र, कोंडापुर (व्हाया) संगारेड्डी, जि. मेडक - ५०२३०६. **संपर्कः** मोबा. ९३९२०-९३७९९, ९३९८३-१६१५५.

धम्मकेतनः विपश्यना साधना केंद्र, पो. मम्परा (व्हाया) कोडुकुलान्जी, चेन्गन्नूर, जि. अलपुज्झा. केरल-६८९५०८. फोनः (०४७९) २३५-१६१६. Email: info@ketana.dhamma.org **संपर्कः** १) (कार्यालय) **केरल विपश्यना समिती,** मायथ्री, नेरेचथरा लाइन, पॅरनडोर रोड, एलमकरा पो. ऑ. कोची-६८२ ०२६. केरल फोनः (०४८४) २५३९८९१ २) श्री बी. रविंद्रन, मोबा. ९८४६५-६९८९१.

धम्म मधुराः मदुराई (धर्म की मधुरता) मदुराई

धम्मकानन : धम्मकानन विपश्यना केंद्र, वैनगंगा तट, रेंगाटोला, पो. गर्रा, बालाघाट. फोनः (०७६३२) २९२४६५; **संपर्कः** १) श्री हरीदास मेश्राम, १२६, रतन कुटी, गंगानगर रोड, बुढ़ी, बालाघाट-४८१००१, (म. प्र.) फोनः **(०७६३२)** २३९१६५, मोबाईलः ०९४२५१४००१५, Email: dineshbgt@hotmail.com २) श्री खोब्रागडे, मोबा. ०९४२४३-३६२४१.

धम्मकेतु : विपश्यना केंद्र, पोस्ट बॉक्स १६, थनौद, व्हाया-अंजौरा, जिला-दुर्ग, छत्तीसगढ़-४९१००१; (म.प्र.) फोनः (०७८८) ३२०५५१३, मोबा. ९५८९८४२७३७. Email: info@ketu.dhamma.org **संपर्कः** १) धम्मकेतु, (उपरोक्त केंद्र के पते पर) तथा मोबा. ०९४२५२-३४७५७, ०९०९८९-२०२४६.

धम्मबल : विपश्यना साधना केंद्र, भेडाघाट थाने से एक किलोमीटर, बापट मार्ग, भेडाघाट, जबलपुर. मोबा. ९३००५०६२५३. **संपर्कः** विपश्यना ट्रस्ट, जबलपुर, द्वारा - मधु मेडिकल स्टोर्स, मेडिसिन काम्प्लेक्स, शास्त्रीब्रिज के पास, मॉडेल रोड, बैंक ऑफ बड़ौदा के बाजू में, जबलपुर-०२ फोनः ०७६१-४००६२५२, मोबा. ९९८१५-९८३५२, ९४२४३-५५२१४.

धम्मलिच्छवी : वैशाली विपश्यना केंद्र, लदौरा ग्राम, लदौरा पाक्री, मुजफ्फरपुर-८४३११३. फोनः ०९९३११६१२९०.

संपर्कः श्री गोयन्का, जेनीथ आटो सर्विस, अघोरिया बाजार, पो. रामना, मुजफ्फरपुर, पिन-८४२००२. फोनः **०६२१-**२२४०-२१५, २२४७७६०. Email: info@licchavi.dhamma.org

धम्मबोधिः बोधगया अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, मगध विश्वविद्यालय के समीप, पो. मगध विश्वविद्यालय, गया-ढोबी रोड, बोधगया-८२४२३४, मोबा. ९४७१६-०३५३१, Email: info@bodhi.dhamma.org **संपर्कः** फोनः **(०६३१)** २२००४३७, ९९५५९-११५५६.

धम्मपुब्बोत्तरः मिजोरम विपश्यना साधना केंद, कमलानगर-२, सीएडीसी, चांगतै-सी, जि. लोंगतलाई, मिजोरम -७९६७७२. Email: mvmc.knagar@gmail.com, **संपर्कः** दिगंबर चकमा, फोनः ०३७२-२५६३६८३. मोबा. ०९४३६७-६३७०८,

धम्मपुरीः त्रिपुरा विपश्यना मेडिटेशन सेंटर, पो. मचमरा, जि. उत्तर त्रिपुरा, पिनः ७९९२६५. मोबा. ०९८६२६-४६७६४, Email: Info@Puri.dhamma.org **संपर्कः** श्री देवान मोहन, फोनः ०३८१-२३००४४१, मोबा. ०९८६२१-५४८८२, ०९४०२५-२७१९१.

धम्मगंगाः विपश्यना केंद्र, सोदपुर, हरिश्चन्द्र दत्ता रोड, पनिहटी, बारो मन्दिर घाट, कोलकाता-७००११४. फोनः **(०३३)** २५५३२८५५. Email: info@ganga.dhamma.org **संपर्कः** कार्यालयः श्री काजड़िया, २२, बोनफील्ड लेन, दूसरा तल्ला, कोलकाता-७००००१, फोनः **(०३३)** २२४२३२२५/४५६१ (२) श्री तोदी, १२३A, मोतीलाल नेहरू रोड, कोलकाता-२९ फोन नि. २४८५४१७९. मोबा. ९८३१४-४७७०१.

धम्मबंगः कोलकाता, पश्चिम बंगाल **संपर्कः** धम्मगंगा केंद्र.

धम्मपालः धम्मपाल विपश्यना केंद्र, केरवा डैम के पीछे, ग्राम दौलतपुरा, भोपाल-४६२ ०४४, Email: dhammapal@airtelmail.in; **संपर्कः** मोबा. ९८९३२-८९०४९, फोनः (०७५५) २४६८०५३, २४६२३५१, फैक्सः २४६-८१९७. ऑन लाइन आवेदन; http://www.dhamma.org/en/schedules/schpala.shtml

धम्ममालवा : इंदौर (म.प्र.) विपश्यना केंद्र, ग्राम - जंबूडी हप्सी, गोमटगिरी के आगे, पितृ पर्वत के सामने, हातोद रोड, इंदौर-४५२००३. **संपर्कः** १) इंदौर विपश्यना इंटरनेशनल फाउंडेशन, ट्रस्ट, "लाभगंगा" ५८२, एम. जी. रोड इंदौर (म.प्र.) फोनः (०७३१) ४२७३३१३. Email: info@malava.dhamma.org; dhammamalava@gmail.com २) श्री शंभुदयाल शर्मा, मोबा. ९८९३१-२९८८८.

धम्मरत : (रतलाम से १५ कि.मी.) साई मंदीर के पीछे, ग्राम धमनोद ता. साईलन जि. रतलाम-४५७००१, फैक्सः ०७४१२ ४०३८८२, मोबा. ०९८२७५-३५२५७. Email: dhamm.rata@gmail.com **संपर्कः** रतलाम विपश्यना समिति, द्वारा डा वाधवानी क्लीनीक, ११७, स्टेशन रोड, रतलाम-४५७००१ मोबा. ०९९८१०-८४८२२, ९४२५३-६४९५६.

धम्मउपवनः बाराचकिया, बिहार **संपर्कः** फोनः निवास (०६२१) २४४ ९७५; ५५२१ ०७७०

धम्मउत्कलः विपश्यना साधना केंद्र, ग्राम चानबेरा पो. अमसेना, (व्हाया) खरियार रोड जिलाः नुआपाडा, उड़ीसा-७६६१०६, मोबा. ०९४०६२३७८९६, संपर्कः १) श्री. एस. एन. अग्रवाल, मोबा. ०९४३८६१०००७, २) श्री. पुरुषोत्तम जे. मोबा. ०९४३७०-७०५०५,

धम्मसिक्किमः विपश्यना साधना केंद्र, पो. ऑ. आहो सेन्ती, ग्राम, सेन्ती ईस्ट सिक्किम- ७३७१३५, **संपर्कः** शीलादेवी चौरसिया, मोबा. ०९८३०७-०६४८१, ०९७४८४-६१७८७, ०९४३४३-३९३०३, ०९४३४८-६२२२६. Email: basantigorsia@hotmail.com

धर्मशृंगः नेपाल विपश्यना केंद्र, मुहान पोखरी, बूढ़ानीलकंठ, पो. बा. १२८९६, काठमांडू, फोनः **९७७ (०१)** ४३७१६५५, ४३७१००७, ४२५०५८१, ४२२५४९०; निवासः ४२२४७२०, ४२२६३१४. Email: info@sringa.dhamma.org; **संपर्कः** फोनः २५०५८१, २२५४९०, नि.२२१२९०. फैक्सः २२४७२०, २२६३१४.

धम्मजननीः लुंबिनी विपश्यना केंद्र, लुंबिनी (पीस फ्लेम के पास), रुपनदेही, लुंबिनी अंचल, नेपाल. Email: info@janani.dhamma.org फोनः ९७७ (७१) ५८०२८२. **संपर्कः** नेपाल. फोनः **९७७ (७१)** ५४१५४९.

धम्मविराट : पूर्वांचल विपश्यना केंद्र, फुलबरी टोल, बस पार्क के दक्षिण की ओर इथारी- ७ संसरी, नेपाल; फोनः [**९७७**] (२५) ५८५५२१; Email: info@birata.dhamma.org; **संपर्कः** १) श्री मुंदडा, फोनः [**९७७**] (२१) ५२५४८६, ५२७६७१. फैक्सः ५२६४६६; २) श्री गोयल, फोनः दूकान [**९७७**](२५)५२३५२८, नि. ५२६८२९.

धम्मतराई : बीरगंज विपश्यना केंद्र, परवानीपुर, पारसा, नेपाल. Email: info@tarai.dhamma.org **संपर्कः** १) कार्यालयः संदीप बिल्डींग, आदर्श नगर, पो. बा. नं. ३२. फोनः ०५१-५२१८८४. फैक्सः ०५१-५८०४६५. मोबा. ९८०४२-४५७६

धम्मचितवन : चितवन विपश्यना केंद्र, मंगलपुर व्ही.डी.सी. वार्ड नं ८, विजयनगर बाजार के समीप, चितवन, नेपाल Email: info@citavana.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री महाराजन, फोनः ९७७(५६) ५२०२९४, ५२८२९४

धम्मकीत्ति : कीर्तिपुर विपश्यना केंद्र, देवधोका, कीर्तिपुर, नेपाल. **संपर्कः** श्री महर्जन, समाल तोले, वार्ड नं. ६, कीर्तिपुर.

धम्मपोखरा : पोखर विपश्यना केंद्र, पचभैया लेखनाथ नगरपालिका, पोखरा, कसकी, नेपाल. **संपर्कः** श्री नारा गुरुंग फोनः [९७७] (०६१) ६९१९७२, मोबा. ९८४६२-३२३८३, ९८४१२-५५६८८. Email: info@pokhara.dhamma.org

Cambodia

Dhamma Laṭṭhikā, Battambang Vipassana Centre, Trungmorn Mountain, National Route 10, District Phnom Sampeau, Battambang, Cambodia **Contact:** Phnom-Penh office: Mrs. Nary POC, Street 350, #35, Beng Keng Kang III, Khan Chamkar Morn, Phnom-Penh, Cambodia. P.O. Box 1014 Phnom-Penh, Cambodia Tel. [855] (012) 689 732; poc_nary@hotmail.com; **Local Contact:** Off: Tel: [855] (536) 488 588, 2. Mr. Sochet Kuoch, Tel: [855] (092) 931 647, [855] (012) 995 269 Email: mientan2000@yahoo.co.uk and ms_apsara@yahoo.com

Hong Kong

Dhamma Muttā, G.P.O. Box 5185, Hong Kong Tel: 852-2671 7031; Fax: 852-8147 3312 Email: info@hk.dhamma.org

Indonesia

Dhamma Jāvā, Jl. H. Achmad No.99; Kampung Bojong, Gunung Geulis, Kecamatan Sukaraja, Cisarua-Bogor, Indonesia. Tel: [62] (0251) 827-1008; Fax: [62] (021) 581-6663; Website: www.java.dhamma.org **Course Registration Office Address:** IVMF (Indonesia Vipassana Meditation Foundation), Jl. Tanjung Duren Barat I, No. 27 A, Lt. 4, Jakarta Barat, Indonesia Tel : [62] (021) 7066 3290 (7am to 10pm); Fax: [62] (021) 4585 7618 Email: info@java.dhamma.org

Iran

Dhamma Īran, Teheran Dhamma House Tehran Mehrshahr, Eram Bolvar, 219 Road, No. 158 Tel: 98-261-34026 97; website: www.iran.dhamma.org Email: info@iran.dhamma.org

Israel

Dhamma Pamoda, Kibbutz Deganya-B, Jordan Valley, Israel **City Contact:** Israel Vipassana Trust, P.O. Box 75, Ramat-Gan 52100, Israel Website: www.il.dhamma.org/os/Vipassana-centre-eng.asp Email: info@il.dhamma.org

Dhamma Korea, Choongbook, Korea. Dabo Temple, 17-1, samsong-ri, cheongcheon-myun, gwaesan-koon, choongbook, Korea. Tel: +82-010-8912-3566, +82-010-3044-8396 Website: www.kr.dhamma.org Email: dhammakor@gmail.com

Japan,

Dhamma Bhānu, Japan Vipassana Meditation Centre, Iwakamiyoku, Hatta, Mizucho-cho, Funai-gun, Kyoto 622 0324 Tel/Fax: [81] (0771) 86 0765, Email: info@bhanu.dhamma.org

Dhammādicca, 782-1 Kaminogo, Mutsuzawa-machi, Chosei-gun, Chiba, Japan 299 4413. Tel: [81] (475) 403 611. Website: www.adicca.dhamma.org

Malaysia

Dhamma Malaya, Malaysia Vipassana Centre, Centre Address: Gambang Plantation, opp. Univ. M.P. Lebuhraya MEC, Gambang, Pahang, Malaysia **Office Address:** No., 30B, Jalan SM12, Taman Sri Manja, 46000 Petaling Jaya, Malaysia. Tel: [60] (16) 341 4776 (English Enquiry) Tel: [60] (12) 339 0089 (Mandarin Enquiry) Fax: [60] (3) 7785 1218; Website: www.malaya.dhamma.org Email: info@malaya.dhamma.org

Mongolia

Dhamma Mahāna, Vipassana center trust of Mongolia. Eronkhy said Amaryn Gudamj, Soyolyn Tov Orgoo, 9th floor, Suite 909, Mongolia Tel: [976] 9191 5892, 9909 9374; **Contact:** Central Post Office, P. O. Box 2146 Ulaanbaatar 211213, Mongolia Email: info@mahana.dhamma.org

Myanmar

Dhamma Joti, Vipassana Centre, Wingaba Yele Kyaung, Nga Htat Gyi Pagoda Road, Bahan, Yangon, Myanmar Tel: [95] (1) 549 290, 546660; Office: No. 77, Shwe Bon Tha Street, Yangon, Myanmar. Fax: [95] (1) 248 174 **Contact:** Mr. Banwari Goenka, Goenka Geha, 77 Shwe Bon Tha Street, Yangon, Myanmar Tel: [95] (1) 241 708, 253 601, 245 327, 245 201; Res. [95] (1) 556 920, 555 078, 554 459; Tel/Fax: Res. [95] (01) 556 920; Off. 248 174; Mobile: 95950-13929; Email: bandoola@mptmail.net.mm; goenka@ mptmail.net.mm Email: dhammajoti@mptmail.net.mm

Dhamma Ratana, Oak Pho Monastery, Myoma Quarter, Mogok, Myanmar **Contact:** Dr. Myo Aung, Shansu Quarter, Mogok. Mobile: [95] (09) 6970 840, 9031 861;

Dhamma Maṇḍapa, Bhamo Monastery, Bawdigone, Near Mandalay Arts &

Science University, 39th Street, Mahar Aung Mye Tsp., Mandalay, Myanmar Tel: [95] (02) 39694 Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Maṇḍala, Yetagun Taung, Mandalay, Myanmar, Tel: [95] (02) 57655 **Contact:** Dr Mya Maung, House No 33, 25th Street, (Between 81 and 82nd Street), Mandalay, Myanmar Tel: [95] (02) 57655, Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Makuṭa, Mindadar Quarter, Mogok.Mandalay Division, Myanmar. Tel: [95] (09) 80-31861. Email: info@joti.dhamma.org

Dhamma Manorama, Main road to Maubin University, Maubin, Myanmar. Tel: **Contact:** U Hla Myint Tin, Headmaster, State High School, Maubin, Myanmar. Tel: [95] (045) 30470

Dhamma Mahimā, Yechan Oo Village, Mandalay-Lashio Road, Pyin Oo Lwin, Mandalay Division, Myanmar. Tel: [95] (085) 21501. Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Manohara, Aung Tha Ya Qr, Thanbyu-Za Yet, Mon State **Contact:** Daw Khin Kyu Kyu Khine, No.64 Aungsan Road, Set-Thit Qr, Thanbyu-Zayet, Mon State, Myanmar. Tel: [95] (057) 25607

Dhamma Nidhi, Plot No. N71-72, Off Yangon-Pyay Road, Pyinma Ngu Sakyet Kwin, In Dagaw Village, Bago District, Myanmar. **Contact:** Moe Mya Mya (Micky), 262-264, Pyay Road, Dagon Centre, Block A, 3rd Floor, Sanchaung Township, Yangon11111, Myanmar. Tel: 95-1-503873, 503516~9, Email: dagon@mptmail.net.mm

Dhamma Ñāṇadhaja, Shwe Taung Oo Hill, Yin Ma Bin Township, Monywa District, Sagaing Division, Myanmar **Contact:** Dhamma Joti Vipassana Centre

Dhamma Lābha, Lasho, Myanmar

Dhamma Magga, Near Yangon, Off Yangon Pegu Highway, Myanmar

Dhamma Mahāpabbata, Taunggyi, Shan State, Myanmar

Dhamma Cetiya Paṭṭhāra, Kaytho, Myanmar

Dhamma Myuradipa, Irrawadi Division, Myanmar

Dhamma Pabbata, Muse, Myanmar

Dhamma Hita Sukha Geha, Insein Central Jail, Yangon, Myanmar

Dhamma Hita Sukha Geha-2, Central Jail Tharawaddy, Myanmar

Dhamma Rakkhita, Thayawaddi Prison, Bago, Myanmar

Dhamma Vimutti, Mandalay, Myanmar

Philippines

Dhamma Phala, Philippines Email: info@ph.dhamma.org

Sri Lanka

Dhamma Kūṭa, Vipassana Meditation Centre, Mowbray, Hindagala, Peradeniya, Sri Lanka Tel/Fax: [94] (081) 238 5774; Tel: [94] (060) 280 0057; Website: www.lanka.com/dhamma/dhammakuta Email: dhamma@sltnet.lk

Dhamma Sobhā, Vipassana Meditation Centre Balika Vidyala Road, Pahala Kosgama, Kosgama, Sri Lanka Tel: [94] (36) 225-3955 Email: dhammasobhavmc@gmail.com

Dhamma Anurādha, Ichchankulama Wewa Road, Kalattewa, Kurundankulama, Anuradhapura, Sri Lanka. Tel: [94] (25) 222-6959; **Contact:** Mr. D.H. Henry, Opposite School, Wannithammannawa, Anuradhapura, Sri Lanka. Tel: [94] (25) 222-1887; Mobile. [94] (71) 418-2094. Website: www.anuradha.dhamma.org Email: info@anuradha.dhamma.org

Taiwan

Dhammodaya, No. 35, Lane 280, C hung-Ho Street, Section 2, Ta-Nan, Hsin She, Taichung 426, P. O Box No. 21, Taiwan Tel: [886] (4) 581 4265, 582 3932; Website: www.udaya.dhamma.org Email: dhammodaya@gmail.com

Dhamma Vikāsa, Taiwan Vipassana Centre - Dhamma Vikasa No. 1-1, Lane 100, Dingnong Road Laonong Village Liouguei Township Kaohsiung County

Taiwan Republic of China Tel: [886] 7-688 1878 Fax: [886] 7-688 1879 Email: info@vikasa.dhamma.org

Thailand,

Dhamma Kamala, Thailand Vipassana Centre, 200 Yoo Pha Suk Road, Ban Nuen Pha Suk, Tambon Dong Khi Lek, Muang District, Prachinburi Province, 25000, Thailand Tel. [66] (037) 403- 514-6, [66] (037) 403 185; Website: http://www.kamala.dhamma.org/ Email: info@kamala.dhamma.org

Dhamma Ābhā, 138 Ban Huay Plu, Tambon Kaengsobha, Wangton District, Pitsanulok Province, 65220, Thailand Tel : [66] (81) 605-5576, [66] (86) 928-6077; Fax : [66] (55) 268 049; Website: http://www.abha.dhamma.org/ Email: info@abha.dhamma.org

Dhamma Suvaṇṇa, 112 Moo 1, Tambon Kong, Nongrua District, Khonkaen Province, 40240, Thailand Tel [66] (08) 9186-4499, [66] (08) 6233-4256; Fax [66] (043) 242-288; Website: http://www.suvanna.dhamma.org/ Email: info@suvanna.dhamma.org

Dhamma Kañcana, Mooban Wang Kayai, Tambon Prangpley, Sangklaburi District, Kanchanaburi Province, Thailand Tel. [66] (08) 5046-3111 Fax [66](02) 993-2700 Email: info@kancana.dhamma.org

Dhamma Dhānī, 42/660 KC Garden Home Housing Estate, Nimit Mai Road, East Samwa Sub-district, Klongsamwa District, Bangkok 10510, Thailand Tel. [66] (02) 993-2711 Fax [66] (02) 993-2700 Email: info@dhani.dhamma.org

Dhamma Sīmanta, Chiengmai, Thailand **Contact:** Mr. Vitcha Klinpratoom, 67/86, Paholyotin 69, Anusaowaree, Bangkhen, BKK 10220 Thailand Tel: [66] (81) 645 7896; Fax: [66] (2) 279 2968; Email: vitchcha@yahoo.com Email: info@simanta.dhamma.org

Dhamma Porāṇo: A meditator has donated six acres of land near Nakorn Sri Dhammaraj (the name of the city), an important and ancient sea-port.

Dhamma Puneti, Udon Province, Thailand

Dhamma Canda Pabhā, Chantaburi, an eastern town about 245 kilometres from Bangkok

Australia & New Zealand,

Dhamma Bhūmi, Vipassana Centre, P. O. Box 103, Blackheath, NSW 2785, Australia Tel: [61] (02) 4787 7436; Fax: [61] (02) 4787 7221 Website: www.bhumi.dhamma.org Email: info@bhumi.dhamma.org

Dhamma Rasmi, Vipassana Centre Queensland, P. O. Box 119, Rules Road, Pomona, Qld 4568, Australia Tel: [61] (07) 5485 2452; Fax: [61] (07) 5485 2907 Website: www.rasmi.dhamma.org Email: info@rasmi.dhamma.org

Dhamma Pabhā, Vipassana Centre Tasmania, GPO Box 6, Hobart, Tasmania 7001, Australia Tel: [61] (03) 6263 6785; Website: www.pabha.dhamma.org Course registration & information: [61] (03) 6228-6535 or (03) 6266-4343 Email: info@pabha.dhamma.org

Dhamma Āloka, P. O. Box 11, Woori Yallock, VIC 3139, Australia Tel: [61] (03) 5961 5722; Fax: [61] (03) 5961 5765 Website: www.aloka.dhamma.org Email: info@aloka.dhamma.org

Dhamma Ujjala, Mail to: PO Box 10292, BC Gouger Street, Adelaide SA 5000, [Lot 52, Emu Flat Road, Clare SA 5453, Australia] **Tel Contact:** Anne Blizzard [61] (0)8 8278 8278; Email: info@ujjala.dhamma.org

Dhamma Padīpa, Vipassana Foundation of WA, Australia, Website: www.dhamma.org.au **Contact:** Andrew Parry C/- 13 Goldsmith Road, Claremont, WA 6010, Australia. Tel: [61]-(8)-9388 9151. Email: andparry@optusnet.com.au Email: info@padipa.dhamma.org

Dhamma Medinī, 153 Burnside Road, RD3 Kaukapakapa, Rodney District, New Zealand Tel: [64] (09) 420 5319; Fax: [64] (09) 420 5320; Website: www.medini.dhamma.org Email: info@medini.dhamma.org

Dhamma Passaddhi, Northern Rivers region, New South Wales Email: info@passaddhi.dhamma.org

Europe,

Dhamma Dīpa, Harewood End, Herefordshire, HR2 8JS, UK Tel: [44] (01989) 730 234; male AT bungalow: [44] (01989) 730 204; female AT bungalow: [44] (01989) 731 024; Fax: [44] (01989) 730 450; Website: www.dipa.dhamma.org Email: info@dipa.dhamma.org

Dhamma Padhāna, European Long-Course Centre, Harewood End, Herefordshire, HR2 8JS, UK Website: www.eu.region.dhamma.org/os username <oldstudent> password <behappy> Email: info@padhana.dhamma.org

Dhamma Dvāra, Vipassana Zentrum, Alte Strasse 6, 08606 Triebel, Germany Tel: [49] (37434) 79770; Website: www.dvara.dhamma.org Email: info@dvara.dhamma.org

Dhamma Mahī, France Vipassana Centre, Le Bois Planté, Louesme, F-89350 Champignelles, France. Tel: [33] (0386) 457 514; Fax [33] (0386) 457 620; Website: www.mahi.dhamma.org Email: info@mahi.dhamma.org

Dhamma Nilaya,, 6, Chemin de la Moinerie, 77120, Saints, France Tel/Fax: [33] 1 6475 1370; Mobile: 0609899079 Email: vcjuly2001@orange.fr

Dhamma Aṭala, Vipassana Centre, SP29, Lutirano 15 50034 Lutirano (Fi) Italy Tel: Off. [39] (055) 804 818; Website: www.atala.dhamma.org Email: info@atala.dhamma.org

Dhamma Sumeru, Centre Vipassana, No. 140, Ch-2610 Mont-Soleil, Switzerland Tel: [41] (32) 941 1670; Website: www.sumeru.dhamma.org Email: info@sumeru.dhamma.org Registration office: registration@sumeru.dhamma.org

Dhamma Neru, Centro de Meditación Vipassana, Cami Cam Ram, Els Bruguers, A.C.29, Santa Maria de Palautordera, 08460 Barcelona, Spain Tel: [34] (93) 848 2695; Website: www.neru.dhamma.org Email: info@neru.dhamma.org

Dhamma Pajjota, Dhamma Pajjota, Belgium, Light (or Torch) of Dhamma, Vipassana Centrum, Driepaal 3, 3650 Dilsen-Stokkem, Belgium. Tel: [32] (0) 89 518 230; Website: www.pajjota.dhamma.org Email: info@pajjota.dhamma.org

Dhamma Sobhana, Lyckebygården, S-599 93 Ödeshög, Sweden. Tel: [46] (143) 211 36; Website: www.sobhana.dhamma.org Email: info@sobhana.dhamma.org

Dhamma Pallava, Vipassana Poland **Contact:** Malgorzata Myc 02-798 Warszawa, Ekologiczna 8 m.79 Poland Tel: [48](22) 408 22 48 Mobile: [48] 505-830-915 Email: info@pl.dhamma.org

Dhamma Sukhakari, East Anglia (UK)

North America

Dhamma Dharā, VMC, 386 Colrain-Shelburne Road, Shelburne MA 01370-9672, USA Tel: [1] (413) 625 2160; Fax: [1] (413) 625 2170; Website: www.dhara.dhamma.org Email: info@dhara.dhamma.org

Dhamma Kuñja, Northwest Vipassana Center, 445 Gore Road, Onalaska, WA 98570, USA Tel/Fax: [1] (360) 978 5434, Reg Fax: [1] (360) 242-5988; Website: www.kunja.dhamma.org Email: info@kunja.dhamma.org

Dhamma Mahāvana, California Vipassana Center 58503 Road 225, North Fork, California, 93643 Mailing address: P. O. Box 1167, North Fork, CA 93643, USA Tel: [1] (559) 877 4386; Fax [1] (559) 877 4387; Website: www.mahavana.dhamma.org Email: info@mahavana.dhamma.org

Dhamma Sirī, Southwest Vipassana Center, 10850 County Road 155 A Kaufman, TX 75142, USA Mailing address: P. O. Box 7659, Dallas, TX 75209, USA Tel: [1] (972) 962-8858; Fax: [1] (972) 346-8020 (registration); [1] (972) 932-7868 (center); Website: www.siri.dhamma.org Email: info@siri.dhamma.org

Dhamma Surabhi, Vipassana Meditation Center, P. O. Box 699, Merritt, BC V1K 1B8, Canada Tel: [1] (250) 378 4506; Website: www.surabhi.dhamma.org Email: info@surabhi.dhamma.org

Dhamma Maṇḍa, Northern California Vipassana Center, Mailing address: P. O. Box 265, Cobb, Ca 95426, USA Physical address: 10343 Highway 175, Kelseyville, CA 95451, USA Tel: [1] (707) 928-9981; Website: www.manda.dhamma.org Email: info@manda.dhamma.org

Dhamma Suttama, Vipassana Meditation Centre 810, Côte Azélie, Notre-Dame-de-Bonsecours, Montebello, (Québec), J0V 1L0, Canada Tél. 1-819-423-1411, Fax. 1- 819- 423- 1312 Website: www.suttama.dhamma.org Email: info@suttama.dhamma.org

Dhamma Pakāsa, Illinois Vipassana Meditation Center, 10076 Fish Hatchery Road, Pecatonica, IL 61063, USA Tel: [1] (815) 489-0420; Fax [1] (360) 283-7068 Website: www.pakasa.dhamma.org Email: info@pakasa.dhamma.org

Dhamma Toraṇa, Ontario Vipassana Centre, 6486 Simcoe County Road 56, Egbert, Ontario, L0L 1N0 Canada Tel: [1] (705) 434 9850; Website: www.torana.dhamma.org Email: info@torana.dhamma.org

Dhamma Vaddhana, Southern California Vipassana Center, P.O. Box 486, Joshua Tree, CA 92252, USA. Tel: [1] (760) 362-4615;; Website: www.vaddhana.dhamma.org Email: info@vaddhana.dhamma.org

Dhamma Patāpa, Southeast Vipassana Trust, Jessup, Georgia, South East USA Website: www.patapa.dhamma.org

Dhamma Modana, Canada Tel: [1] (250) 483-7522; Website: www.modana.dhamma.org Email: info@modana.dhamma.org

Dhamma Karunā, Alberta Vipassana Foundation Tel: [1](403) 283-1889 Fax: [1](403) 206-7453 Email: registration@ab.ca.dhamma.org

Latin America,

Dhamma Santi, Centro de Meditação Vipassana, Miguel Pereira, Brazil Tel: [55] (24) 2468 1188. Website: www.santi.dhamma.org Email: info@santi.dhamma.org

Dhamma Makaranda, Centro de Meditación Vipassana, Valle de Bravo, Mexico Tel: [52] (726) 1-032017 Registration and information: Vipassana Mexico, P. O. Box 202, 62520 Tepoztlan, Morelos Tel/Fax: [52] (739) 395-2677; Website: www.makaranda.dhamma.org Email: info@makaranda.dhamma.org

Dhamma Pasanna, Melipilla, Chile Email: info@pasanna.dhamma.org

Dhamma Sukhadā, Buenos Aires, Argentina, **Contact:** Vipassana Argentina, Tel: [54] (11) 6385-0261; Email: info@ar.dhamma.org

Dhamma Veṇuvana, Centro de Meditación Vipassana, 90 minutes from Caracas, Sector Los Naranjos de Tasajera, Cerca de La Victoria, Estado Aragua, Venezuela. (See map on the website) Tel: [58] (212) 414-5678 For information and registration: Calle La Iglesia con Av. Francisco Solano, Torre Centro Solano Plaza, Of. 7D, Sabana Grande, Caracas, Venezuela. Phone: [58](212) 716-5988, Fax: 762-7235 Website: www.venuvana.dhamma.org Email: info@venuvana.dhamma.org

Dhamma Suriya, Centro de Meditación Vipassana, Cieneguilla, Lima, Perú Email: info@suriya.dhamma.org

South Africa

Dhamma Patākā, (Rustig) Brandwacht, Worcester, 6850, P. O. Box 1771, Worcester 6849, South Africa Tel: [27] (23) 347 5446; **Contact:** Ms. Shanti Mather, Tel/Fax: [27] (028) 423 3449; Website: www.pataka.dhamma.org Email: info@pataka.dhamma.org

Russia

Dhamma Dullabha: Avsyunino Village, Dhamma Dullabha (formerly camp "Druzba") 142 645 Russian Federation, Phones +7-968-894-23-92, +7-901-543-16-27

ISBN 978-81-7414-126-X
VRI - H04